जैन भारती

वर्ष 54 • अंक 12 • दिसंबर, 2006

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

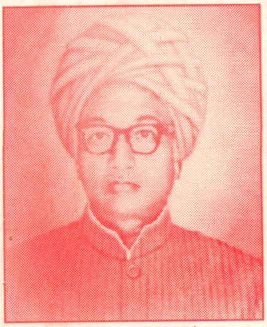

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

बस्तीमलजी छाजेड़

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की ओर से श्री (स्व.) बस्तीमलजी छाजेड़ को प्रदत्त 'शासन हितैषी' अलंकरण महासभा अध्यक्ष श्री भंवरलाल डागा से ग्रहण करते हुए श्री मांगीलाल छाजेड़ व श्रीमती विमलादेवी छाजेड़, सिरियारी (बंगलौर)

मनोहर, मांगीलाल, श्रीमती विमलादेवी, शान्तिलाल
संजय-मंजू, मनीष-मीना, नवीन-चेतना, दर्शन, हर्षिता, मुदित
पद्म परवर, चिरायू, तनीषा छाजेड़

Sha Mangilal Shantilal & Co.

Manufacturers and Wholesale Suppliers of

Pure Silk Sarees, Handloom Silks, Pure Crapes and Art Silk Sarees
'Shanti Bhavan', 64, A.M. Lane, (19-25, First Cross, D.K. Lane)
Chickpet, Bangalore 560053
Phone : Shop : 22261462, 22205965 Fax : 080-22384004

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 54 • दिसंबर, 2006 • अंक 12

विमर्श

11
स्वामी विवेकानंद
आंतरजगत : एक विमर्श

18
रामचन्द्र बोड़ा
ज्ञानबोध और मनोमय मानव

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

23
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
परिवर्तन की दिशाएं : कुछ पहलू

28
भगिनी निवेदिता
हमारा कर्तव्य : एक चिंतन

33
प्रो. कल्याणमल लोढ़ा
तस्मै देवाय सर्वात्मने नमः

36
अजीत जैन
जैन पुराणों में संगीत : एक विवेचन

39
कहानी
रामनारायण शुक्ल
डाब

44
कविता
अशोक 'अनुराग' की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
सत्य-साधना—मनुष्य होने के लिए

शीलन

47
साध्वी अनुशासनाश्री
मन—चेतन; अवचेतन

50
मुनि जयंतकुमार
नेतृत्व विकास : कुछ सूत्र

52
श्रीमन्नारायण
सुखस्य मूलं धर्मः

56
बालकथा
प्रदीप पंत
पाषाण पुरुष

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

भीतर तांबा, ऊपर चांदी का झोल

कोई कहता है—'ये वेषधारी साधु दोष का सेवन करते हैं, फिर भी गृहस्थ की अपेक्षा तो अच्छे हैं।' उस पर स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—'एक साहूकार की दुकान में सवेरे कोई पैसा लेकर आया और कहा—'शाहजी! पैसे का गुड़ है?' तब दुकानदार ने उस पैसे को नमस्कार कर उसे ले लिया। उसने सोचा—'सवेरे-सवेरे तांबे के सिक्के से व्यवसाय का प्रारंभ हुआ है।'

दूसरे दिन वह रुपया लेकर आया और कहा—'शाहजी! रुपये की रेजगी है?' तब दुकानदार ने रुपयों को नमस्कार कर उसे ले लिया। रेजगी गिन उसे दे दी। मन में प्रसन्न हुआ—'आज चांदी के सिक्के का दर्शन हुआ।'

तीसरे दिन वह खोटा रुपया लेकर आया और बोला—'शाहजी! रुपये की रेजगी है?' तब वह दुकानदार प्रसन्न होकर बोला—'मेरी दुकान पर कल वाला ही ग्राहक आया है।' उसने रुपया हाथ में लेकर देखा, तो वह खोटा था। भीतर तांबा और ऊपर चांदी। वह उस रुपये को फेंक कर बोला—'सवेरे-सवेरे नकली रुपये का दर्शन हुआ।'

तब वह बोला—'शाहजी! आप नाराज क्यों हुए? परसों मैं पैसा लाया था, तब तुमने तांबे के सिक्के को नमस्कार किया था, कल मैं रुपया लाया था, तब तुमने चांदी के सिक्के को नमस्कार किया था, और इसमें तो तांबा और चांदी दोनों हैं, इसलिए इसे तुम दो बार नमस्कार करो।'

तब वह बोला—'रे मूर्ख! परसों तो अकेला तांबा था, वह ठीक है। कल अकेली चांदी थी, वह और अधिक ठीक है। वे दोनों अलग-अलग थे इसलिए नकली नहीं थे। पर इसमें भीतर तांबा और ऊपर चांदी का झोल है इसलिए यह खोटा है। यह किसी काम का नहीं।'

इस दृष्टांत के अनुसार पैसे के समान गृहस्थ श्रावक होता है, रुपये के समान साधु होता है और नकली रुपये के समान वेषधारी होता है, जिसका बाहरी वेष तो साधु का और भीतरी लक्षण गृहस्थ का। वह खोटे सिक्के जैसा होता है—वह न गृहस्थ में और न साधु में, किंतु 'वघेरा' जैसा होता है। यह वंदना के योग्य नहीं होता। श्रावक प्रशंसा के योग्य और आराधक होता है। साधु भी प्रशंसा के योग्य और आराधक होता है। पर खोटे सिक्के के साथी वेषधारी आराधक नहीं हैं। •

स्वभाव परिवर्तन का सूत्र है विनिवर्तना। विनिवर्तना का अर्थ है निषेधात्मक भावों से अप्रभावित रहने का संकल्प। इस संकल्प की स्वीकृति के साथ ही ऐसा पुरुषार्थ शुरू हो जाता है, जो पहले से प्रभावी भावों को निर्वीर्य बना सके, उनसे छुटकारा दिला सके। इसके लिए गंभीर पर्यालोचन की अपेक्षा रहती है। अपने भीतर झांकने वाला व्यक्ति ही यह बोध पा सकता है कि उसमें कौन-सा भाव अधिक सक्रिय है।

भावों का दर्पण सामने रखकर अपना चेहरा देखना आवश्यक है। चेहरा भी बाहरी नहीं, भीतरी देखना है। जब तक वह दिखाई नहीं देगा, व्यक्ति अपने स्वरूप से परिचित नहीं हो सकेगा। स्वरूपबोध के लिए उसमें जिज्ञासा जगे कि मैं कैसा हूं? जिज्ञासा के बाद दूसरी बात है—बुभूषा। मैं कुछ होना चाहता हूं। जब तक यह भाव नहीं जागता है, पुरुषार्थ का द्वार नहीं खुल सकता। पुरुषार्थ का दरवाजा खटखटाने के लिए चिकीर्षा—कुछ करने की इच्छा का होना आवश्यक है। अन्यथा व्यक्ति किसी भी दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता।

—आचार्यश्री तुलसी

स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ—तीनों का ही अपना महत्त्व है। ऋषि-महर्षि परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए समर्पित हो जाते हैं। वे परमार्थ की साधना करते हैं। समाज की भूमिका पर विचार करें तो हमें दो शब्दों पर विचार करना होगा—स्वार्थ और परार्थ। व्यक्ति का हर कार्य स्वार्थ से जुड़ा हुआ होता है। लेकिन वह स्वार्थ हेय है, जिसकी पूर्ति के लिए व्यक्ति दूसरे को कष्ट पहुंचाए।

युवाचार्यश्री ने आगे कहा—आचार्यप्रवर अहिंसा यात्रा के द्वारा यही प्रयास कर रहे हैं कि हर व्यक्ति के भीतर अहिंसा की चेतना का जागरण हो। जिस व्यक्ति के भीतर अहिंसा की चेतना जाग जाती है, वह निजी स्वार्थ से ऊपर आ जाता है। अहिंसाप्रधान जीवनशैली व्यक्ति के लिए कल्याणकारी है। समाज और राष्ट्र के उत्थान के लिए भी इस जीवनशैली का प्रसार आवश्यक है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

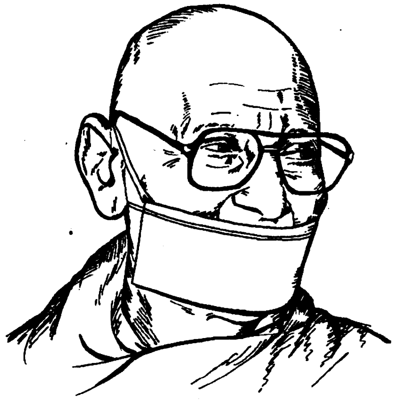

सत्य की खोज का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है—ध्यान। इसी तरह सत्य की खोज में एक बड़ी बाधा है—चंचलता। जितनी चंचलता, उतनी ही सत्य से दूरी। जितनी चंचलता कम, उतनी ही सत्य से निकटता। ध्यान का प्रयोजन है मन को एकाग्र करना। एकाग्रता की सघनता होने पर जिस स्थिति का निर्माण होता है उसमें व्यक्ति मन की भूमिका से परे चला जाता है। मन की दुनिया में सत्य का बहुत कम ज्ञान होता है। मन की दुनिया विचार, तर्क, चिंतन और कल्पना तक सीमित है। इसमें जो सत्य उपलब्ध होता है, वह बहुत छोटा है। महान सत्य उन लोगों को मिलता है, जो मन की भूमिका से परे चले जाते हैं। योगी हो या वैज्ञानिक, महान सत्य उन्हें ही उपलब्ध हुआ है, जो मन की भूमिका से परे पहुंचे हैं।

कोई दरवाजा या खिड़की अपने-आप खुलते हैं और प्रकाश प्रस्फुटित हो जाता है। कोई भी बड़ा सत्य चिंतन से उपलब्ध नहीं होता। वह अचिंतन के क्षणों में ही उपजता है। ध्यान का मार्ग चिंतन से अचिंतन की ओर जाने का मार्ग है। जैसे-जैसे ध्यान सधता है, सत्य स्पष्ट होता चला जाता है।

कान का काम शब्द को सुनना है। ध्यान करने वाला भी शब्द को सुनता है और चंचल मन वाला भी शब्द को सुनता है। जिसका मन एकाग्र है, वह केवल शब्द को सुनेगा और जिसका मन चंचल है, वह कोरा शब्द ही नहीं सुनेगा। उसके लिए शब्द मात्र ज्ञेय ही नहीं, प्रिय-अप्रिय भी होता है। शब्द का श्रवण और प्रिय-अप्रिय का अनुभव, ये दोनों साथ-साथ होंगे। यदि संगीत प्रिय लगा तो कहेगा कि अच्छा संगीत है। यदि वह अप्रिय लगा तो कहेगा कि कैसा संगीत है यह! जिसने मन की चंचलता को कम कर लिया है, वह इस प्रकार प्रिय-अप्रिय का संवेदन नहीं करेगा। व्यक्ति रूप को देखता है। जिसका मन चंचल कम है, वह केवल रूप को देखेगा। वहां संबंध होगा ज्ञाता और ज्ञेय का। एक जानने वाला है और एक ज्ञान का विषय है। जिस व्यक्ति का मन चंचल है, वह केवल रूप को नहीं देखेगा। या तो वह आश्चर्य की दृष्टि से देखेगा या नाक-भौं सिकोड़ेगा। यहां संबंध होगा भोक्ता और भोग्य का। एक है ज्ञाता और ज्ञेय का संबंध। दूसरा है भोक्ता और भोग्य का संबंध। जहां व्यक्ति भोक्ता बन जाता है, वहां सत्य की खोज समाप्त हो जाती है। ध्यान के द्वारा सत्य की खोज करें। इसका रहस्य-सूत्र है—हम ज्ञाता बनने का अभ्यास करें और भोक्ता-भाव को कम करें। ज्ञाता-द्रष्टा-भाव को विकसित करें। हम पदार्थ को जानें, केवल जानें। जहां ज्ञान का प्रश्न है, वहां कोई भी पदार्थ अच्छा या बुरा नहीं होता, सुंदर या कुरूप नहीं होता।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

सत्य-साधना—मनुष्य होने के लिए

एक झूठ को बचाने के लिए अनेक बार झूठ का सहारा लेना पड़ता है—यह हमेशा कहा जाता रहा है। ठीक इसी तरह यह भी माना जाता है कि एक झूठ को सौ बार दोहराया जाए तो वह सच समझ लिया जाता है। यह भी कहा जाता है कि झूठ के पांव कच्चे होते हैं। झूठ या सच, बोलने वाला जानता है कि वह क्या बोल रहा है और इसीलिए यदि कोई झूठ बोल रहा होता है तो वह अंदर से घबराया-सा भी रहता ही है। सच की अपेक्षा झूठ अधिक खतरनाक है। झूठ जब झूठ नहीं रहता, यानी कि जब परदा हट जाता है और असलियत सामने आ जाती है तो ऐसा करने वाला कहीं का नहीं रहता। वह अविश्वसनीय तो हो ही जाता है, कई बार कुछ अनहोनी भी हो जाती है। ठीक इसके बरक्स सच बोलने वाला किसी भी प्रतिकूल दशा में कभी अकेला नहीं रहता। सच के पक्ष में स्वतः कोई-न-कोई अवश्य आ खड़ा होता है। माना तो यह जाता है कि सच का बल अपार होता है, उसे सहारे की जरूरत नहीं रहती है।

फिर भी नीतिज्ञों का कहना है कि कड़वा सच नहीं बोलना चाहिए। मधुर सत्य बोलो। सच कड़वा या कि मधुर कैसे होता है? सत्य तो सत्य है, पर हम देखते हैं कि कटु सत्य से अकसर बचा जाता है। जबकि मधुर सत्य को कई बार 'चापलूसी' की श्रेणी में रख दिया जाता है। ये लोक-व्यवहार की बातें हैं और व्यवहार में सामान्य-नीति को देखा ही जाता है। हम इसे शिष्टाचार भी कह देते हैं। यह सब समझते हुए भी कोई झूठ का पक्षधर हो जाए और सच को गलत कह दे—ऐसा नहीं हो सकता। कहा यही जाएगा कि सच बोलो; झूठ मत बोलो। व्यवहार सदा सच पर ही टिका रहता है।

यह सत्य का लोक-व्यवहार पक्ष हुआ और सामान्य जीवन में यह होना ही चाहिए—ऐसा सभी मानते हैं। सत्य-साधना इसी व्यवहार का एक रूप है। जो लोक-व्यवहार में सच का पक्षधर होगा, वही अपने जीवन में सत्य की साधना कर सकता है।

साधना की बात आते ही धर्म की ओर ध्यान जाता है। किसी भी धर्म को देखें, सत्य उसका एक अंग अवश्य है। जैन मतावलंबियों के पांच महाव्रतों में से एक सत्य है। महात्मा गांधी के एकादश व्रतों में भी सत्य एक व्रत है। 'सत्य-धर्म' प्रचलित कथन है। गांधी तो धर्म या ईश्वर का अर्थ ही 'सत्य' मानते रहे हैं। वे तो यहां तक कहते हैं कि 'सत्य ही परमेश्वर' है। साधु-संन्यासी या पांच महाव्रत-

धारियों के लिए सत्य की साधना एक स्वाभाविक क्रिया है। अतः उनके लिए सत्य-साधना सहज है। लेकिन, सामान्य जन की बात हम सोचें तो पाएंगे कि ऐसे विरले ही लोग होंगे जो सत्य की साधना में अनवरत रत रहे हों। महात्मा गांधी उनमें से एक हैं जो सार्वजनिक-राजनीतिक जीवन में भी सदा सत्य के आग्रही रहे। वे तो कहते थे—'धर्म से कोई संबंध नहीं रखने वाली राजनीति बिलकुल कूड़ा-करकट जैसी है, जिससे सदा दूर ही रहना चाहिए' और वे मानते थे—'मेरी राजनीति और मेरी अन्य सारी प्रवृत्तियां धर्म से ही जन्म लेती हैं।' गांधी बहुत साफ तौर पर बताते हैं—'जो मनुष्य यह कहता है कि धर्म का राजनीति से कोई संबंध नहीं है, वह धर्म को नहीं जानता, ऐसा कहने में मुझे कोई संकोच नहीं होता और ऐसा न कहने में मैं अविनय करता हूं।' ठीक इसी के साथ महात्मा गांधी धर्म को भी स्पष्ट कर देते हैं। वे कहते हैं—'मैं मानवीय प्रवृत्ति से अलग किसी धर्म को नहीं जानता। उससे अन्य सब प्रवृत्तियों को नैतिक आधार मिलता है, जो और किसी तरह से नहीं मिलता और जिसके बिना जीवन 'निरर्थक शोरगुल' बन जाता है।'

सत्य क्या है? महात्मा गांधी सरल-सा, लेकिन अत्यंत गूढ़ भी, उत्तर देते हैं—'जो हमारी अंतरात्मा कहे, वही सत्य है।' आगे चलकर वे इस बात को शिव और सुंदर के साथ जोड़ते हैं। 'सत्यं शिवं सुंदरं'—इसे कौन नहीं जानता है! गांधी कहते हैं कि सत्य को पा लेने पर कल्याण और सौंदर्य स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। अतः माना जा सकता है कि कल्याण के मार्ग पर चलने के लिए भी सत्य एक सक्षम वाहक है।

सत्य-साधना सदा निर्भयता पर ही अवलंबित है। लियो टॉल्सटॉय तो यहां तक कहते हैं—'मुझे अपने से या दूसरों से झूठ नहीं बोलना चाहिए और न सत्य से भयभीत होना चाहिए, चाहे उसका कुछ भी परिणाम क्यों न निकले।' वे बड़े ही मर्म की बात कहते हैं—'झूठ न बोलने का मतलब है सत्य से न डरना; बुद्धि और अंतरात्मा के निष्कर्षों को स्वयं से छिपाने के लिए बहाने न खोजना और जब दूसरे इसके लिए बहाने बनाएं तो उन्हें स्वीकार न करना; अपने चारों ओर के व्यक्तियों से मतभेद रखने में भयभीत न होना; इस बात से न घबराना कि हमारी बुद्धि और अंतरात्मा जो कुछ कहती है उसे मानने वाला कोई दूसरा नहीं; इस बात से भी न डरना कि सत्य हमें किस स्थिति पर पहुंचा देगा। हमें यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि सत्य और अंतरात्मा की पुकार चाहे हमें किधर भी क्यों न ले जाए, वह झूठ पर आधारित जीवन से बुरा नहीं हो सकता।' सत्य-साधना का यही बीज-मंत्र हो सकता है जो टॉलस्टॉय ने बताया है। जब तक हम यह न समझ लें—'झूठ पर आधारित जीवन से बुरा कुछ नहीं हो सकता'—तब तक सत्य के प्रति हम पूरी तरह आग्रहशील नहीं रह सकते।

यह सर्वमान्य मत है कि झूठ का सहारा तात्कालिक तौर पर ही राहतदाई होता है। असलियत अंततः सामने आती ही है। दूसरी ओर सत्यकथन तात्कालिक तौर पर अवश्य कष्टकर रहता है, पर दीर्घकालिक स्तर पर उसके सुफल ही निकलते हैं। जाहिर है कि झूठ व्यवहार किसी भी रूप में युक्तियुक्त नहीं हो सकता। फिर भी यह पाया जाता है कि अकसर लोग झूठ का सहारा ले ही लेते हैं। पूरी तरह से इससे बचने या मुक्त होने के लिए कोई प्रयत्नशील नहीं रहता। इसके लिए क्या उपाय हो सकते हैं?

सामान्य जीवन में सत्यकथन के लिए थोड़ी-सी आतंरिक तैयारी की ही आवश्यकता है। यदि हम तात्कालिक जोखिम उठा लेने को तैयार हो जाएं तो असत्य से बचा जा सकता है। झूठ का सहारा किसी हालत में नहीं लेना है और बहाने बनाकर बचने के उपाय नहीं खोजने हैं—इतना-भर दृढ़-निश्चय कर लिया जाए तो झूठ से बचने में कोई बाधा नहीं आ सकती है। हम सभी जानते हैं कि यह जीवन सत्य पर ही टिका हुआ है। मूलतः आदमी सत्य के प्रति ही झुकाव रखता है। प्रश्न सिर्फ यह है कि सत्य के प्रति यह 'झुकाव', सत्य के प्रति 'आग्रह' में बदल जाए।

आखिर मनुष्य होने के मानी क्या हैं? मनुष्य की देह धारण कर लेना तो प्रकृति प्रदत्त हुआ, पर देह धारण कर लेने के बाद मनुष्य होने के लिए जो कुछ करणीय होता है, उस ओर अग्रसर होना ही तो मनुष्य होना है। हम मनुष्य कहला सकें—इस ओर अभिमुख होना और इस ओर अनवरत सचेष्ट रहना ही मनुष्य होना है। सत्य और प्रेम की साधना, करुणा और सहजीवन का अवलंबन ही हमें मनुष्य बनाता है।

—शुभू पटवा

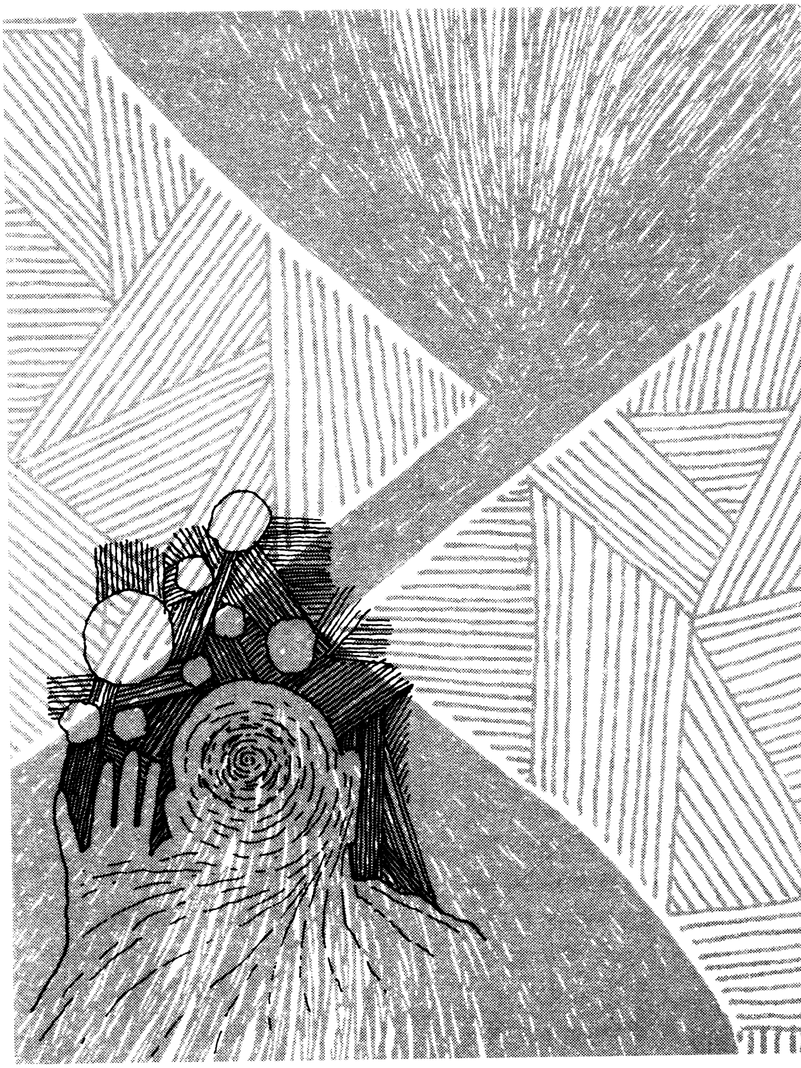

विमर्श

हमें किसी वस्तुपरक, सार्वभौम सिद्धांत की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। सबके एक प्रकार से सोचने का मतलब है कोई नहीं सोचता। विश्व-समाज में प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता है कि वह अपने अनुसार ईश्वर को समझे, और ऐतिहासिक तथ्य तो स्वतंत्रतापूर्वक घटनाओं के अनुसार विकसित होते ही जाएंगे। जिस प्रकार किसी 'सिम्फनी' के संगीत की जटिलता और मधुरता में प्रत्येक स्वर का योग होता है, उसी प्रकार प्रत्येक धर्म का योग संपूर्ण की समृद्धि में होता है। आज के संकटकाल में आवश्यक है कि समस्त विश्व की आध्यात्मिक शक्तियां आपस में मिल जाएं और महान धार्मिक परंपराएं आपसी रूपगत भिन्नताओं को भूलकर अपनी आधारभूत एकता समझें।

—सर्वपल्ली राधाकृष्णन

आंतरजगत : एक विमर्श

स्वामी विवेकानंद

मनुष्य का मन बहिरुन्मुख होना चाहता है, मानो इंद्रियों के झरोखे से बाहर झांकना चाहता है। आंखों से हम बाह्य जगत को देखते, कानों से बाहर के शब्दों को सुनते और इसी प्रकार अन्य इंद्रियों से अन्य बाह्य विषयों को ग्रहण करते हैं। सच्ची बात तो यह है कि प्रकृति की रमणीयता और मनोहरता ही मनुष्य के ध्यान को पहले-पहल आकर्षित करती है। पहला प्रश्न जो मनुष्य की आत्मा में उठा वह इस बाह्य जगत के संबंध में ही था। इस रहस्य का समाधान आकाश, तारे, चंद्र, सूर्यादि ग्रह-नक्षत्रों, पृथ्वी, नदियों, पर्वतों और समुद्रों से चाहा गया। सारे प्राचीन धर्मों में हम यह देखते हैं कि मनुष्य का मन, जैसे कोई अंधेरे में टटोलता हो वैसे कभी इसे, कभी उसे—यों प्रत्येक बाह्य विषय को पकड़ता रहा कि उससे समाधान हो जाएगा। नदी भी देवता है, आकाश में देवता है, मेघ भी देवता, मेह भी देवता है—कहां तक कहें—संसार-भर के सारे बाह्य विषय, जिन्हें अब हम प्रकृति की शक्तियां समझते हैं, पहले मनुष्यों की दृष्टि में बदल-बदला कर देवरूप बन गए और सब में चेतन की तरह उपचार दिखाई पड़ता है। कोई देवता है तो कोई देवी, कोई देवदूत, कोई कुछ, कोई कुछ। जब यह विचार गंभीर होता गया तब आगे चलकर ये बाह्य विषय मनुष्य की आत्मा को शांति देने में असमर्थ सिद्ध हुए, अंत में विचार शक्ति अंतरुन्मुखी हुई और मनुष्य की आत्मा से उत्तर चाहा गया। स्थूल जगत के प्रश्न से सूक्ष्म जगत का प्रश्न उठ खड़ा हुआ, बाह्य जगत से ध्यान अध्यात्म की ओर झुक गया। बाह्य जगत की छान-बीन करते-करते मनुष्य की अंतरात्मा की जांच उस समय प्रारंभ होती है जब उसमें उच्च सभ्यता आ जाती है, जब वह प्रकृति का बड़ी गंभीर दृष्टि से निरीक्षण करने लगता है और बहुत उन्नति कर लेता है।

आत्मा के धर्म के विषय में अनेक प्रश्न उठते हैं। यदि आत्मा के स्वयंप्रकाश होने से यह उपपत्ति निकाली जाए कि इसकी पृथक सत्ता है और ज्ञान, सत्ता और आनंद इसके धर्म हैं, इससे उसका होना माना जाए तो इससे यह निकलता है कि आत्मा की सृष्टि नहीं हुई है, वह नित्य है। स्वयंप्रकाश सत्ता—अन्य सत्ता की निरपेक्ष सत्ता—कभी अन्य सत्ता से उत्पन्न नहीं हो सकती। यह नित्य है, ऐसा कोई समय न था जब वह न रही हो। कारण यह है कि जब आत्मा ही थी तब काल कहां था? काल तो आत्मा में ही है, जब आत्मा अपना बल मन को देती है और मन विचार में प्रवृत्त होता है, तभी काल की उत्पत्ति होती है। जब आत्मा ही न थी, तब विचार कहां और विचार के बिना काल कहां? फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि आत्मा काल में है, जब काल स्वयं आत्मा में है? न इसकी उत्पत्ति है, न विनाश है—यह सभी अवस्थाओं में बनी रहती है।

हमें अंतरात्मा के विषय पर विचार करना है। मनुष्य के लिए अंतरात्मा के प्रश्न से बढ़कर कोई प्रिय और उपयोगी दूसरा प्रश्न है ही नहीं। यही प्रश्न करोड़ों बार सारे देशों में उठ चुका है। ब्रह्मर्षि, राजर्षि, धनी, निर्धन, साधु-असाधु, स्त्री-पुरुष, सब यही प्रश्न करते आए हैं। क्या इस मनुष्य के निःसार जीवन में कुछ सार नहीं है? जब इस शरीर का नाश हो जाता है तो क्या कुछ बच नहीं रहता है? इस क्षणभंगुर शरीर में कुछ नित्य स्थाई है

या नहीं? मनुष्य शरीर के भस्मात के अनंतर कुछ रह जाता है या नहीं? यदि है, तो उसका क्या परिणाम होता है? वह जाता कहां है? वह कहां से आता है? यह प्रश्न बार-बार होता चला आया है और जब तक सृष्टि है और मनुष्य में सोचने की शक्ति है, लगातार होता ही जाएगा। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इसका कुछ उत्तर या समाधान हुआ ही नहीं है। प्रत्येक बार इसका समाधान हुआ है और ज्यों-ज्यों समय बीतता जाएगा अच्छे से अच्छा समाधान होता जाएगा। इस प्रश्न का उत्तर सहस्रों वर्ष हुए निश्चय रूप से सदा के लिए दिया जा चुका है और लोग उसे बार-बार दुहराते, उस पर टीका-टिप्पणी करते रहे हैं। मैं यह नहीं कहता कि उस सर्वग्राही प्रश्न पर मैं कोई विशेष नया प्रकाश डाल सकूंगा। उस प्राचीन सत्य समाधान को केवल आजकल की बोलचाल में वर्णन करूंगा, प्राचीन लोगों के विचार को आधुनिक भाषा में कहूंगा, दार्शनिकों की वार्ता सामान्य लोगों की बोलचाल में समझाऊंगा, देवताओं के विचार को तुच्छ मनुष्यों की भाषा में व्यक्त करूंगा कि मनुष्य उसे समझें। कारण यह है कि वही देवांश, जिससे ये विचार उत्पन्न हुए हैं, सदा मनुष्य में विद्यमान हैं और यही कारण है कि वह उन्हें सदा समझ सकता है।

कल्पना करें कि मैं आपकी ओर ताक रहा हूं। इस ताकने के लिए कितनी बातों की आवश्यकता है? पहले तो आंख की आवश्यकता है। क्योंकि, यदि मैं सब तरह से संपन्न होऊं और आंख न हो तो मैं आपको देख ही नहीं सकूंगा। दूसरी आवश्यकता हमें चक्षु इंद्रिय की है, क्योंकि आंख इंद्रिय नहीं है, वह तो गोलकमात्र है—देखने का साधनमात्र है। आंखों के पीछे चक्षु इंद्रिय है जिसका सूत्र मस्तिष्क से लगा है। यदि वह केंद्र मारा जाए तो मनुष्य की आंख कितनी ही अच्छी क्यों न हो, उसे कुछ सुझाई ही न पड़ेगा। अतः यह आवश्यक है कि केंद्र या वास्तव इंद्रिय भी हममें ठीक ही हो। यही दशा हमारी अन्य इंद्रियों की भी समझ लें। बाहरी कान श्रोत्रेंद्रिय नहीं है, वह एक चोंगा है जिसमें होकर शब्दों के कंप केंद्र तक भीतर पहुंचते हैं। पर, इतना मात्र पर्याप्त नहीं है। मान लीजिए कि आप अपने पुस्तकालय में बैठे ध्यानपूर्वक एक पुस्तक पढ़ रहे हैं, घंटा बजता है, पर आप उसे नहीं सुन सकते। शब्द भी हुआ, कान भी आपका है, आपकी इंद्रियां भी ठीक हैं, वायु में गति भी हुई, कान द्वारा केंद्र में कंप भी पहुंचा, पर आपने सुना क्यों नहीं? कमी किस बात की थी? कमी यह थी कि आपका मन उधर नहीं था। अतः हम देखते हैं कि तीसरी आवश्यक बात यह है कि हमारा मन भी उधर ही हो। अतः तीन मुख्य चीजें हुईं, पहली तो इंद्रियों के बाहरी गोलक, दूसरी वे इंद्रियां—जिनमें इन गोलकों द्वारा संवेदना पहुंचती है और अंत में मन और इंद्रियों का योग। जब तक इंद्रियों के साथ मन का योग नहीं होता—बाह्य करण और इंद्रियों में संवेदना भले ही पहुंचे—हमें उसका बोध नहीं होगा। मन भी एक करण या इंद्रिय ही है। यह भी संवेदना को आगे ले जाता है और बुद्धि के सामने उसे रख देता है। बुद्धि भी व्यवसायात्मिका शक्ति है, वह जो उसके पास आता है, उस पर निश्चय करती है। यहां पर भी समाप्ति नहीं हुई। बुद्धि उसे और आगे ले जाती है और शरीर के शासक के सामने, जिसे आत्मा कहते हैं, जो इसका राजा है, सब-कुछ रख देती है। सब-कुछ उसी के आगे जाता है, फिर उसके मुंह से आज्ञा होती है कि अमुक काम करो, अमुक काम मत करो, और वह आज्ञा उसी क्रम से पहले बुद्धि के पास, फिर मन के पास, फिर इंद्रियों के पास आती है। इंद्रियां उसे गोलकों तक पहुंचाती हैं, तब कहीं संवेदना की क्रिया की समाप्ति या पूर्ति होती है।

इंद्रियों के कारण हमारे इसी बाह्य शरीर में हैं, जिसे स्थूल शरीर कहते हैं। पर, मन और बुद्धि उसमें नहीं है। वह इस शरीर से बहुत ही सूक्ष्म है, पर वह आत्मा नहीं है। आत्मा इन सब से कहीं परे है। स्थूल शरीर सुगमता से थोड़े दिनों में नाश हो जाता है, साधारण से साधारण बात में उसका नाश हो सकता है। सूक्ष्म शरीर का इतनी सुगमता से नाश नहीं होता, पर वह कभी दुर्गत और कभी प्रबल होता रहता है। हम देखते हैं कि जब मनुष्य वृद्ध हो जाता है तो उसका मन निर्बल हो जाता है। शरीर जब शक्तिशाली और स्वस्थ रहता है, तब मन भी बलवान रहता है। भिन्न-भिन्न औषधियों का मन पर प्रभाव होता है, उत्तम भोजनादि से मनुष्य के शरीर और मन को प्रबलता प्राप्त होती है। इस मन पर बाह्य जगत के विषयों का प्रभाव पड़ता है और मन इस बाह्य जगत पर प्रभाव डालता है। जैसे शरीर की क्रमशः वृद्धि और ह्रास होता रहता है वैसे ही मन में भी वृद्धि और ह्रास होता रहता है, अतः मन आत्मा नहीं है क्योंकि आत्मा में क्षय और विकार नहीं होते हैं। पर, उसका हमें बोध कैसे हो? हम यह जान कैसे सकते हैं कि मन से परे भी कुछ है? इसी से कि ज्ञान, जो स्वयं ज्योतिस्वरूप है और सारी चेतनता का मूल है, जड़ और अचेतन द्रव्य का धर्म हो नहीं सकता। कभी किसी जड़ द्रव्य के संघात में निज की चेतनता देखी नहीं गई है, जड़ अचेतन द्रव्य में अपना प्रकाश कहां?

यह चेतनता ही है जिससे यह द्रव्यों में प्रकाश आता है। कमरे की सत्ता का बोध चेतनता ही से होता है। क्योंकि यदि चेतनता इसे न बनाती तो इसकी सत्ता ही कमरे के रूप में अज्ञात होती। यह शरीर स्वयं प्रकाश नहीं है, यदि इसमें निज का प्रकाश होता तो मरने पर भी तो वह रह जाता। न मन में, और सूक्ष्म शरीर ही में निज का प्रकाश है। इनमें चेतनता का तत्त्व नहीं है। जो स्वयं प्रकाश है उसका क्षय कहां? जिनमें दूसरे की ज्योति से प्रकाश होता है, उनका प्रकाश आता-जाता रहता है। पर, जो स्वयं ज्योतिस्वरूप है, प्रकाशमय है, उसमें गति-विगति, वृद्धि-क्षय, किसके करने से हो सकते हैं? हम देखते हैं कि चंद्रमा की कलाएं घटती-बढ़ती रहती हैं, इसी से कि वह सूर्य की ज्योति से प्रकाशमान है। लोहे का गोला जब आग में तपाया जाता है तब वह लाल अग्नि वर्ण हो जाता है, दमक उठता है और चमकने लगता है, पर उसका प्रकाश क्षय हो जाएगा क्योंकि वह दूसरे से आया है। अतः क्षय केवल उसी प्रकाश का हो सकता है जो दूसरे से मिला हुआ है, अपने तत्त्व का नहीं।

अब हम देखते हैं कि इस शरीर, इस स्थूल पिंड का धर्म निज का प्रकाश नहीं है, न यह स्वयं का प्रकाश ही है और न इसे अपना ज्ञान ही हो सकता है। यह दशा मन की भी है। उसे भी आत्म-बोध नहीं है। क्यों नहीं? इसका कारण यही है कि मन के साथ भी ह्रास और वृद्धि लगी हुई है। वह भी कभी प्रबल और कभी निर्बल होता रहता है, क्योंकि इस पर थोड़ा-बहुत किसी-न-किसी वस्तु का और सब वस्तुओं का प्रभाव पड़ता रहता है। अतः वह प्रकाश, जो मन से होकर निकलता है, इसका अपना प्रकाश नहीं है। फिर वह है किसका? यह उसी का प्रकाश है—जिसका धर्म ही प्रकाश है, और प्रकाश धर्म होने के कारण ही जिसका नाश और क्षय नहीं है, जो कभी न बढ़ता ही है, न कभी घटता ही है, न प्रबल होता है न निर्बल, जो स्वयं प्रकाश है, प्रकाश-स्वरूप ही है। यह हो नहीं सकता कि आत्मा की सत्ता हो, किंतु आत्मा स्वयं सत्ता ही है। यह संभव नहीं कि आत्मा को आनंद हो, अपितु स्वयं आत्मा ही आनंद ही है। उसके अतिरिक्त जो आनंद पाता है, वह दूसरे के आनंद ही से स्वयं आनंदित होता है। जिसे ज्ञान होता है वह दूसरे के ज्ञान से ज्ञानी बनता है। जिसमें सापेक्ष सत्ता होती है वह केवल प्रतिबिंबित सत्ता मात्र है। जहां गुण देख पड़ते हैं, वहां वे गुण केवल प्रतिबिंब मात्र हैं, जो द्रव्य पर पड़ते हैं। पर, आत्मा में सत्ता, ज्ञान और आनंद गुणरूप नहीं हैं, वे उसके धर्म हैं, वे आत्मा के स्वधर्म हैं।

अब यह कहा जा सकता है कि हम इसे यों ही कैसे मान लें? हम यह क्यों मानें कि ज्ञान, सत्ता और आनंद आत्मा के धर्म हैं। ये किसी दूसरे के धर्म नहीं हैं, जो उसमें आ गए हैं? इस पर यह तर्क उठ सकता है कि आत्मा में भी प्रकाश, आनंद और ज्ञान उसी प्रकार किसी और से आए हैं, जैसे शरीर का प्रकाश मन से आता है? इस प्रकार के तर्क में यह दूषण है कि इसमें अनवस्था दोष आ जाएगा, जाते-जाते हम कहां ठहरेंगे? ये कहां से आए? यदि हम किसी और से आना बतलाते हैं तो फिर वह प्रश्न हमारे सामने आ जाता है और कहीं अंत नहीं होता। अतः हमें किसी-न-किसी स्वयंप्रकाश ठिकाने पर लगना पड़ेगा, और किसी-न-किसी को प्रकाशस्वरूप या स्वयंप्रकाश मानना ही पड़ेगा। विवाद को अधिक न बढ़ाकर न्याय की शैली यही है कि हम वहीं ठहर जाएं, जहां हमें स्वयंप्रकाशता मिलती हो और आगे बढ़ने का व्यर्थ प्रयास न करें।

हम देखते हैं कि मनुष्य में पहले तो यह बाह्य आवरण, जिसे हम स्थूल शरीर कहते हैं, फिर दूसरा सूक्ष्म शरीर है—जिसमें मन, बुद्धि और अहंकार हैं और उसके परे मनुष्य की आत्मा है। हम देख चुके हैं कि स्थूल शरीर के सारे गुण और शक्तियां मन से आई हैं और मन या सूक्ष्म शरीर में शक्ति और प्रकाश आत्मा से आए हैं, जो सबसे परे हैं।

आत्मा के धर्म के विषय में अनेक प्रश्न उठते हैं। यदि आत्मा के स्वयंप्रकाश होने से यह उपपत्ति निकाली जाए कि इसकी पृथक सत्ता है और ज्ञान, सत्ता और आनंद इसके धर्म हैं, इससे उसका होना माना जाए तो इससे यह निकलता है कि आत्मा की सृष्टि नहीं हुई है, वह नित्य है। स्वयंप्रकाश सत्ता—अन्य सत्ता की निरपेक्ष सत्ता—कभी अन्य सत्ता से उत्पन्न नहीं हो सकती। यह नित्य है, ऐसा कोई समय न था जब वह न रही हो। कारण यह है कि जब आत्मा ही थी तब काल कहां था? काल तो आत्मा में ही है, जब आत्मा अपना बल मन को देती है और मन विचार में प्रवृत्त होता है, तभी काल की उत्पत्ति होती है। जब आत्मा ही न थी, तब विचार कहां और विचार के बिना काल कहां? फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि आत्मा काल में है, जब काल स्वयं आत्मा में है? न इसकी उत्पत्ति है, न विनाश है—यह सभी अवस्थाओं में बनी रहती है। यह धीरे-धीरे अभिव्यक्त होती रहती है और नीची दशा से ऊंची दशा को प्राप्त होती जाती है। यह अपनी महिमा को प्रकाशित करती जाती है और मन के द्वारा शरीर पर काम

करती है। शरीर द्वारा बाह्य विषयों को ग्रहण करती है और उनको अपने बोध में लाती है। यह शरीर धारण करती है और शरीर से काम लेती है, और जब शरीर काम के योग्य नहीं रह जाता और निकम्मा हो जाता है तब यह दूसरा शरीर धारण करती है और इसी प्रकार करती जाती है।

अब एक बड़े महत्त्व का प्रश्न उठता है। वह प्रश्न आत्मा के पुनः शरीर धारण करने का है, जिसे आवागमन कहते हैं। कभी-कभी लोगों को इसे सुनकर भय लगता है। अंधविश्वास तथा पक्षपात इतना प्रबल है कि विवेकी लोगों का भी यह विश्वास है कि वे शून्य से उत्पन्न हुए हैं। फिर वे बड़ी युक्ति से इस कल्पना को प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं कि यद्यपि हुए तो हैं वे शून्य से ही, पर रहेंगे सदा और शाश्वत। जिनकी उत्पत्ति शून्य से है, उनका क्षय भी अवश्य शून्य ही में होगा। न तो आप, न मैं, न और कोई शून्य से हुए हैं और अंत में शून्य होंगे। हम सदा से हैं और रहेंगे। सूर्य के इधर या उधर कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो आप की या हमारी सत्ता का नाश कर सकती हो या हमें शून्य बना सकती हो। यह आवागमन का सिद्धांत डरावना सिद्धांत नहीं है, किंतु मनुष्य जाति के धार्मिक कल्याण के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्धांत ठहरता है। केवल यही न्याययुक्त परिणाम है, जिस पर समझदार मनुष्य पहुंच सकते हैं। यदि आप भविष्य में अनंतकाल तक रहना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि आप भूतकाल में अनादिकाल से रहते आए हों, यह अन्यथा हो ही नहीं सकता। मैं कुछ ऐसी आपत्तियों का उत्तर देना चाहता हूं जो इस सिद्धांत पर हुआ करती हैं। मैं उनका समाधान करना आवश्यक समझता हूं, कारण यह है कि कभी-कभी बड़े बुद्धिमान लोग भी ऐसी लड़कपन की बातें करने पर उद्यत हो जाते हैं। किसी ने ठीक कहा है कि कोई ऐसी मूर्खता की बात न होगी जिसके पक्ष का समर्थन तार्किकों ने न किया हो। पहली आपत्ति यही है कि यदि पुनर्जन्म है, तो हमें हमारे पूर्वजन्म का स्मरण क्यों नहीं रहता? क्या हमें इस जन्म की सारी बातों का स्मरण रहता है? क्या हमें इस जन्म की सारी बीती बातों का स्मरण रहता है? आप लोगों में कितने लोगों को अपने बचपन की बातों की सुधि आती है? मैं समझता हूं कि किसी को अपने बहुत छुटपने की बातों की सुधि न आती होगी। अब यदि आपकी स्मृति ही पर आपकी सत्ता निर्भर है तब तो बचपन में आपकी सत्ता ही न ठहरी, क्योंकि उस अवस्था की स्मृति पर ही आपकी सत्ता है। आपकी सत्ता केवल स्मृति ही के कारण है, केवल प्रलाप मात्र है। हमें पूर्वजन्म का स्मरण ही क्यों रहे? वह मस्तिष्क तो रहा नहीं, यह तो एक नया मस्तिष्क है। जो इस जन्म के कर्मों के संस्कारों का समूह मात्र, जिसे लेकर हमारा मन इस नए शरीर में आया है।

मैं जो हूं, अनादिकाल से होते हुए पूर्वजन्मों का कार्य और फलस्वरूप हूं, मुझमें अनंतकाल के संस्कार भरे पड़े हैं और इसकी आवश्यकता ही क्या है कि मुझे बीते हुए जन्मों का स्मरण हो? जब कोई यह कहता है कि अमुक महर्षि या नबी ने सत्य का साक्षात करके कुछ कहा है, तब आधुनिक लोग यही कहते हैं कि वह मूर्ख था—उसकी बातें ठीक नहीं थीं, पर उनके स्थान पर नाम बदल दो और कहो कि यह हक्सले या टेंडल ने कहा है—तब वे कहते हैं कि वह अवश्य ठीक है, उसे झट निर्विवाद मान लेते हैं। प्राचीन अंधविश्वासों के स्थान पर अब उनमें आधुनिक अंधविश्वास आ गया है। अतः हम देखते हैं कि यह आपत्ति कि हमको पूर्वजन्म का स्मरण नहीं रहता—असंगत है और यही एक प्रबल आपत्ति है, जो इस सिद्धांत पर की जाती है। यद्यपि हम यह दिखला चुके हैं कि इस सिद्धांत की सत्यता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि पूर्वजन्म का स्मरण हो ही, पर फिर भी हम कह सकते हैं कि ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि स्मृति होने लगती है और हम सबको पूर्वजन्मों का स्मरण उस जन्म में हो जाएगा, जब हम मुक्त हो जाएंगे। तभी यह जान पड़ेगा कि यह संसार स्वप्नवत है, तभी हमें अपनी आत्मा की आत्मा में साक्षात्कार हो जाएगा कि हम नट हैं और यह संसार रंगभूमि है, तभी मेघ की-सी गरज के साथ असंगता के भाव का उदय होगा, तभी सुख की सारी तृष्णा, इस जीवन और संसार के सारे रोग सदा के लिए छूट जाएंगे। तब स्पष्ट दिखाई देगा कि इस संसार से माता, पिता, पुत्र, पुत्री, स्त्री, पुरुष, इष्ट, मित्र, धन, बल के साथ संयोग हो चुका है। वे आए और गए। कितनी बार इस भवसागर की लहरों के शिखर पर आए हैं और कितनी बार नैराश्य की गहराई में पहुंच चुके हैं। फिर जब इन सब बातों का स्मरण हो जाएगा, तब हम महापुरुष बन कर खड़े होंगे और जब संसार में कोई कष्ट पड़ेगा, तब उसे देख कर हंसेंगे। उस समय कह सकेंगे कि मृत्यु, मैं तेरी परवाह नहीं करता, तू मेरा कर ही क्या सकती है? यही सब की अवस्था होगी।

क्या आवागमन के पक्ष में कोई युक्ति और न्यायसंगत प्रमाण भी है? अभी तक तो हम विरुद्ध पक्ष का खंडन करते आए हैं और हमने सिद्ध किया है कि विपक्ष की आपत्तियां, जो इसके खंडन में दी जाती हैं, कैसी असंगत हैं। अब हम

मंडन का पक्ष उठाते हैं। इसके पक्ष में प्रमाण भी हैं और वे बड़े प्रबल प्रमाण हैं। हम देखते हैं कि एक मनुष्य की समझ में दूसरे मनुष्य की समझ से कितना अंतर है। एक उसी बात को चट समझ जाता है, दूसरा बार-बार समझाने से भी नहीं समझता। इस भेद का समाधान आवागमन के सिद्धांत के अतिरिक्त दूसरी बात से यथार्थ हो ही नहीं सकता है। पहले हमें उस क्रम का विचार करने की आवश्यकता है जिसके अनुसार बोध प्राप्त होता है, ज्ञान की उपलब्धि होती है। मान लीजिए कि मैं सड़क या गली में निकला और वहां मैंने एक कुत्ता देखा। मुझे इसका ज्ञान कैसे होता है कि यह कुत्ता ही है? मैं अपने अनुभव को मन के पास भेज देता हूं, मेरे मन में पूर्व के सब अनुभूत विषयों का यथाक्रम वर्गानुसार संचय रहता है। ज्यों ही कोई नई उपलब्धि होती है, मैं उसे लेकर पुराने वर्गीकरणों से मिलाता हूं, जब मुझे उनमें कोई वैसा ही संचित संस्कार मिल जाता है, मैं उसे उसी वर्ग में रख देता हूं, और मुझे उसका निश्चय हो जाता है। मैं इसे कुत्ता इस कारण समझ लेता हूं कि यह पूर्व के संचित अन्य तद्रूप संस्कारों से मिलता-जुलता है। यदि मुझे वहां उसके समानधर्मी कोई अन्य संचित संस्कार नहीं मिलते हैं, तो मुझे निश्चय नहीं होता। जब हमें कोई संचित समानधर्मी संस्कार नहीं मिलता और निश्चय नहीं होता है तब मन की इस वृत्ति को अज्ञान या अबोध कहते हैं। पर, जब हमें अन्य सधर्म संस्कार मिल जाते हैं और निश्चय हो जाता है, तब उस वृत्ति का नाम ज्ञान होता है। जब एक सेब गिरा तो देखने वाले में अनिश्चय वृत्ति हुई, पर ज्योंही उसे धीरे-धीरे अपने संचित संस्कारों में उसका समानधर्मी वर्ग मिल गया, उसमें निश्चय की वृत्ति आ गई। अब उन लोगों ने इसका कौन-सा वर्ग बनाया? यही कि सब सेब गिरते हैं, इस वर्ग का नाम 'गुरुत्व' या 'गुरुत्वाकर्षण' नियम रख लिया। यों हम देखते हैं कि बिना पूर्वसंचित अनुभवों के समूह के नया अनुभव असंभव हो जाता है। कारण यह है कि जहां संचित संस्कार का नितांत अभाव है, वहां नए संस्कार का मिलान किसके साथ हो? अतएव यदि, जैसा कि योरोप के कुछ दार्शनिक लोग समझते हैं, बच्चा संसार में बिना किसी पूर्वसंस्कार के जन्म लेता है—जिसे कहते हैं कि कोरा कागज या कोरी तख्ती लेकर जन्म लेता है—तो ऐसे बच्चे को कुछ भी ज्ञान शक्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि उसके भीतर तो कुछ संस्कार है ही नहीं, वह नए अनुभवों को किससे मिलाएगा! हम यह भी देखते हैं कि ज्ञानोपलब्धि की शक्ति भिन्न-भिन्न मनुष्यों में भिन्न हुआ करती है। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि सब अपना अलग-अलग ज्ञान-भंडार लेकर जन्म लेते हैं। ज्ञान के प्राप्त करने का मार्ग एक ही है और वह अनुभव है, इसके अतिरिक्त दूसरा ज्ञान का मार्ग ही नहीं है। यदि हमारे पास इस जन्म का अनुभव नहीं है तो किसी और जन्म का अनुभव सही। हमें मृत्यु से भय क्यों लगता है? यह भय एकदेशी नहीं है, सर्वव्यापक है। मुर्गी का बच्चा अभी अंडे से बाहर निकला है, चील उस पर झपटी और बेचारा डर से अपनी माता के पास भागता है। यह एक पुराना समाधान है, मैं तो उसे समाधान के नाम का गौरव देना नहीं चाहता। सहज ज्ञान या नैसर्गिक बुद्धि के नाम से इसका समाधान किया जाता है। भला यह तो बतलाइए कि उस बेचारे को अभी अंडे से निकले कुछ देर भी न हुई, वह मरने से क्यों डरा? मुर्गी बत्तख के अंडे को सेकर फोड़ती है और उससे बतख का बच्चा निकलता है, ज्यों ही वह पानी के पास जाता है—वह उसमें कूद कर तैरने लगता है। वह तो कभी तैरा नहीं था और न उसने किसी को तैरते ही देखा था। लोग इसे 'सहज' ज्ञान कहते हैं। देखने में तो यह बड़ा-सा नाम है, पर इससे काम कुछ नहीं चलता। बच्चा पियानो बजाना आरंभ करता है। पहले तो उसे एक-एक परदे पर ध्यानपूर्वक हाथ लगाकर बजाना पड़ता है और इस प्रकार महीनों क्या, वर्षों अभ्यास करने पर बिना विचारे भी उसका हाथ परदे पर ठीक ही पड़ेगा और वह बिना ध्यान दिए भी उसे बजा सकेगा। जो काम पहले वह जान-बूझकर करता था, अब उसे वैसा नहीं करना पड़ता, सहज-सा हो गया, बुद्धि पर जोर देने की आवश्यकता न रही, इच्छा पर बल नहीं लगाना पड़ता। यह प्रमाण अभी पूरा नहीं हुआ, आधा ही रह गया। सारे काम, जो सहज ही बिना प्रयत्न के होते हैं, वे भी इच्छा के वशीभूत किये जा सकते हैं। शरीर की नस-नस वश में लाई जा सकती है। यह सभी जानते हैं। अब इतने दूने चक्कर पर प्रमाण पूरा हुआ, अर्थात् जिसे हम अब सहज ज्ञान कहते हैं, वह ज्ञानपूर्वक क्रिया का संकोच या रूपांतर मात्र है; अतः यदि इसी न्याय को सृष्टि मात्र पर लगाया जाए, यदि प्रकृति में विषमता नहीं है, तब तो यह सिद्ध होता है कि छोटे-छोटे जंतुओं से लेकर मनुष्य तक में जो सहज ज्ञान है, वह केवल इच्छा का एक विकार मात्र है।

हमें यह जान पड़ता है कि सहज-ज्ञान बुद्धि या विवेक का अवरोह मात्र है। मनुष्यों और पशुओं में, जिसे हम सहज-ज्ञान कहते हैं, वह केवल ज्ञानपूर्वक क्रिया का एक विकार, संकोच या अवरोह मात्र है और ज्ञानपूर्वक क्रिया का होना अनुभव बिना असंभव है। अनुभव से वह ज्ञान उत्पन्न

हुआ और वह ज्ञान अब तक है। मुर्गी के बच्चे में मृत्यु का भय, बतख के बच्चे में तालाब देखकर उसमें तैरने के लिए कूदना और मनुष्यों में, जो बिना ज्ञान के क्रियाएं देखी जाती हैं (जो सब सहज-ज्ञान से उत्पन्न कहलाती हैं), उसी पूर्वानुभव के परिणाम मात्र हैं। आधुनिक वैज्ञानिक भी अब ऋषियों के मत को फिर मानने लगे और जहां वे सुपथ पर लौट आए हैं, वहां दोनों के मत एक हैं। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक जंतु अनुभव का भंडार लिए उत्पन्न होता है और उसके सारे मानसिक व्यापार उसी पूर्वानुभव के परिणाम हैं। पर, यहां आकर वे यह पूछने लगते हैं कि यह कहने में क्या लाभ है कि अनुभव आत्मा या जीवात्मा ही का है? यह क्यों कहा जाए कि वह शरीर का, केवल शरीर ही का अनुभव है, अन्य का नहीं? उसे पैतृक संक्रमण क्यों नहीं मानते, यह कोई नहीं कहता कि देह देह में ही वंश-परंपरा में चला आया है? यही अंतिम प्रश्न है कि यह क्यों नहीं कहा जाए कि सारा अनुभव, जिसे लेकर हम उत्पन्न होते हैं, हमारे पूर्वज के अनुभवों का परिणामस्वरूप कार्य मात्र है? छोटे एकेंद्रिय जंतु से लेकर ऊंचे से ऊंचे मनुष्य तक का अनुभव हममें संचित है, पर यह पिता-पितामह आदि से संक्रमण द्वारा एक के शरीर से दूसरे के शरीर में होता हुआ हम तक आया है—ऐसा मानने में कठिनाई कहां पड़ेगी? बात तो बहुत ही अच्छी है और हम भी इस पैतृक संक्रमण को किसी-न-किसी अंश में स्वीकार किए लेते हैं। पर कहां तक? जहां तक कि इसका काम शरीर के लिए सामग्री संपादन करने का है। हम अपने पूर्वजन्म के कर्मों द्वारा अपने को इस योग्य बना लेते हैं कि अमुक जन्म में अमुक प्रकार का शरीर हमें मिले और ऐसे शरीर के लिए उपयुक्त सामग्री माता-पिता के शरीर ही से आती है, जो अपने को इस योग्य बना चुके हैं कि अमुक आत्मा उनके यहां संतान रूप में जन्म ग्रहण करे।

पैतृक संक्रमण का सिद्धांत सीधा-सादा जान पड़ता है, किंतु उसमें आश्चर्यकारक सिद्धांत बिना सोचे-विचारे मान लिया गया है कि मानसिक अनुभव भौतिक रूप में अपना संकेत बना लेता है। जब मैं आप को देखता हूं तब मेरे अंतःकरण में एक लहर उठती है। लहर विलीन हो जाती है, पर सूक्ष्म रूप से उसका संस्कार या उल्लेख बना रहता है। हम मान सकते हैं कि भौतिक उल्लेख या संस्कार शरीर ही में रह सकता है। क्योंकि हम वह भी तो देखते हैं कि शरीर छिन्न-भिन्न हो जाता है। फिर जन्मांतर तक कौन ले जाता है? हम यह भी मान लें कि यदि यह संभव हो कि सारे मानसिक उल्लेख शरीर में बने ही रहें और आदि पुरुष से लेकर मेरे पिता तक के सारे संस्कार या उल्लेख मेरे पिता के शरीर में थे, तो भी यह बतलाइए कि वे मुझ तक आए तो कैसे आए? क्या जीवनतत्त्व के कोश अर्थात् वीर्याणु के द्वारा? पर यह हो कैसे सकता है? बाप का सारा शरीर तो बच्चे में आता नहीं है। इसके अतिरिक्त एक ही माता-पिता के अनेक संतानें होती हैं, तो इस पैतृक संक्रमण के सिद्धांत के अनुसार, जिसमें संस्कृत और संस्कार एक ही (अर्थात् भौतिक या प्राकृतिक) ठहरते हैं, यही परिणाम निकलता है कि प्रत्येक संतान के जन्म के साथ माता-पिता के संस्कारों का एक-एक अंश क्षय होता जाता है। यदि कहीं माता-पिता के सारे संस्कार संतान में आते हों तब तो पहली ही संतान की उत्पत्ति होने पर उनका मन संस्कारशून्य रह जाएगा।

फिर यदि जीवनतत्त्व के कोश में सदा के संस्कार, जिनका कुछ अंत नहीं, समाविष्ट हैं, तो वे कहां समाविष्ट हैं और कैसे समाविष्ट हैं? यह पक्ष अत्यंत असंभव है और जब तक भौतिक विज्ञानवेत्ता यह न सिद्ध कर दें कि उस कोश में वे संस्कार कहां रहते हैं और कैसे रहते हैं और यह न बतला दें इस कथन से कि मानसिक संस्कार भौतिक कोश में प्रसुप्त दशा में रहते हैं, उनका अभिप्राय क्या है, उनका पक्ष कभी बिना प्रमाण के मननीय नहीं हो सकता। अब यहां तक तो स्पष्ट है कि यह संस्कार मन में रहता है। मन जन्म-जन्मांतर ग्रहण करता रहता है और अपने लिए जो सामग्री उसे उपयुक्त जान पड़ती है, उसे काम में लाता है। यह भी सिद्ध हुआ कि जो मन अपने को विशेष प्रकार के शरीर को धारण करने के योग्य बना चुका है, वह तब तक प्रतीक्षा करता रहता है जब तक कि उसे उपयुक्त सामग्री नहीं मिलती है। यहां तक तो हम समझ गए। अब आगे सिद्धांत यह है कि पैतृक संक्रमण वहीं तक है जहां तक कि जीवात्मा के लिए द्रव्य या सामग्री के संपादन करने का संबंध है। पर, जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता और अपने लिए नए-नए शरीर बनाता रहता है। हमारा प्रत्येक विचार और कर्म, जिन्हें हम करते रहते हैं, पुनः उत्पन्न होने और नया रूप धारण करने के लिए सूक्ष्म रूप से संचित और तैयार रहते हैं। जब मैं आपकी ओर देखता हूं तब मेरे मन में एक लहर उठती है। वह लहर बैठ जाती है, सूक्ष्म से सूक्ष्म होती जाती है, पर नष्ट नहीं होती। वह बनी रहती है कि स्मृति के रूप में पुनः लहर ही की तरह उठ सके। अतः सारे संस्कार मेरे अंतःकरण में बने रहते हैं

और जब मैं मर जाता हूं तब उनके फल का प्रभाव मुझ पर बना रहता है। मान लीजिए कि यहां एक गेंद है और हम लोग अपने हाथों में हथौड़ा लिए उस गेंद पर चारों ओर से चोटें मार रहे हैं। गेंद कोठरी-भर में एक ओर से दूसरी ओर चोटों के मारे फिर रहा है, पर ज्यों ही वह द्वार पर पहुंचता है, वह झट बाहर निकल ही जाता है। वह अपने साथ क्या लेकर जाता है? उन्हीं चोटों का फल। वही उसे जाने की दशा बतलाता है। अतः जीवात्मा को शरीर के नाश होने पर ले कौन जाता है? उसके सारे कायिक और मानसिक कर्मों के फल ही ले जाते हैं। यदि कर्मों का फल यह होता है कि वह और अनुभव प्राप्त करने के लिए नया शरीर धारण करे तो वह उन माता-पिता के पास जाएगा जो उसके लिए उपयुक्त शरीर बनाने की सामग्री देने के लिए तैयार बैठे हैं। इस प्रकार वह एक शरीर से दूसरे शरीर में, कभी स्वर्ग में, कभी पृथ्वी पर, आता-जाता रहेगा, कभी मनुष्य योनि में जाएगा, कभी पशु योनि में। इस प्रकार वह आवागमन के चक्र में फिरता रहेगा, जब तक कि उसे पूर्ण अनुभव प्राप्त नहीं हो जाएगा और चक्र पूरा न हो जाएगा। जब उसे अपने स्वरूप का बोध हो जाएगा और वह यह जान जाएगा कि मैं क्या हूं, उसकी अविद्या जाती रहेगी, उसकी शक्तियां अभिव्यक्त हो जाएंगी, वह आप्त बन जाएगा। तब फिर उसे आगे को भौतिक शरीरों के द्वारा कर्म करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है और न उसे सूक्ष्म या मानसिक शरीर के द्वारा ही काम करने की आवश्यकता रहती है। वह अपने प्रकाश से प्रकाशमान और मुक्त हो जाता है, न फिर उसे जन्म लेना रह जाता है, न मरना। ❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा द्वारा श्रेष्ठ एवं विशिष्ट सभा चयन

हे प्रभो! यह तेरापंथ

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा से सम्बद्ध (एफिलिएटेड) तेरापंथी सभाओं में से निर्धारित अर्हताओं के आधार पर प्रतिवर्ष बड़े क्षेत्रों से **श्रेष्ठ सभा** एवं छोटे क्षेत्रों से **विशिष्ट सभा** का चयन किया जाता है। सात्त्विक प्रसन्नता है कि श्रद्धास्पद आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के सान्निध्य में आगामी मर्यादा-महोत्सव के पावन अवसर पर दिनांक 23 जनवरी, 2007 को जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा की ओर से आयोजित विशेष समारोह में उक्त चयनित सभाओं को सम्मानित किया जाएगा।

इस अवसर पर बड़े क्षेत्रों में से चयनित श्रेष्ठ सभा को **स्व. झूमरमल बच्छावत प्रेरणा पुरस्कार** के अंतर्गत रु. 1 लाख की राशि व प्रतीक चिह्न तथा छोटे क्षेत्रों में से चयनित विशिष्ट सभा को **स्व. बस्तीमल सारीबाई छाजेड़ प्रेरणा पुरस्कार** के अन्तर्गत रु. 31 हजार की राशि व प्रतीक चिह्न पूज्यवरों के पावन सान्निध्य में प्रदान किया जाएगा। प्राप्त आवेदनों के आधार पर प्रारंभिक स्तर पर 5 सभाओं का चयन 'श्रेष्ठ सभा' के लिए तथा 5 सभाओं का चयन 'विशिष्ट सभा' के लिए चयन समिति की ओर से किया जाएगा। ज्ञात रहे, जिस क्षेत्र में 100 से अधिक परिवार हैं, उसे बड़े क्षेत्र की सभा तथा 100 से कम परिवार वाले क्षेत्र की सभा को छोटे क्षेत्र की सभा के रूप में वर्गीकृत किया जाता है।

प्रारंभिक स्तर पर चयनित सभाओं के पदाधिकारियों से दिनांक 22 जनवरी, 2007 को मर्यादा-महोत्सव स्थल, गंगाशहर (राजस्थान) में आयोजित मिलन-गोष्ठी में साक्षात्कार (इंटरव्यू) लिया जाएगा। 10 चयनित सभाओं में से श्रेष्ठ सभा एवं विशिष्ट सभा का चयन निर्णायक मंडल द्वारा किया जाएगा।

इस हेतु सभी सभाओं को महासभा द्वारा आवेदन-पत्र एवं स्वनिर्धारण फार्म प्रेषित किया गया है। सादर निवेदन है कि आवेदन-पत्र एवं स्वनिर्धारण फार्म भर कर यथाशीघ्र महासभा के प्रधान कार्यालय में भेजने की व्यवस्था करावें। आवेदन-पत्र भर कर भेजने की अंतिम तिथि 15 दिसंबर, 2006 है। अधिक जानकारी हेतु महासभा के निम्न पते एवं फोन नंबरों पर संपर्क कर सकते हैं—

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

फोन नंबर : (033) 22357956, 22343598, फैक्स नंबर : (033) 22343666, मोबाइल नं. 9831218218

ज्ञानबोध और मनोमय मानव

रामचन्द्र बौड़ा

सत्य की खोज और ज्ञान की चाह—मनुष्य में दो मौलिक प्रवृत्तियां रही हैं। इससे मनुष्य को प्रकृति की कारणता का पता चलता है। उस कारणता की पृष्ठभूमि में उत्पन्न मनुष्य मूलतः मनोमयी है। मनोमयता में मनुष्य की इंद्रियों पर पड़ने वाले संवेदन की महत्ता रही है। यह संवेदन मनुष्य और प्रकृति के परस्पर कार्यकारी जुड़ाव के कारण होता है। मनुष्य का मन इन संवेदनों का प्रत्यक्षीकरण कर ज्ञानबोध को तैयार करता है। यह ज्ञानबोध मन पर पड़ने वाले संवेदन 'स्लेट' पर अंकन किए जाने वाले अंकन जैसा नहीं है। मन निष्क्रिय अवयव नहीं है, जहां संवेदन यंत्रवत् प्राप्त किए जाते रहे हों। विज्ञान बताता है कि संवेदन बाह्य-वस्तु (प्रकृति) का उपक्रम है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से वह समय गया जब आंख देखती और कान सुनते थे। आंख और कान अब संवेदन के केवल वाहक मात्र रह गए हैं। मन ही उन संवेदनों को प्रत्यक्ष देखने और सुनने का काम करता है और ज्ञानबोध करता है। आंख से देखने और कान से सुनने वाली बात समाप्त हुई। मन ही मस्तिष्क है। वह चेतनता का संश्लिष्ट अवयव है। वह संदेशों को प्रत्यक्ष कर उनकी प्रतिकृति तैयार करता है। प्रत्यक्षीकरण से ही मनुष्य का ज्ञान सृजित होता है। ज्ञान के सृजन से ही विचार बनते हैं। ज्ञान और विचारों में यही संबंध है।

मन को किसी वस्तु की जानकारी होने का अर्थ यह नहीं है कि 'ज्ञान मन की मनःस्थिति' है। वह मन की उपज है, पर दूसरे अर्थों में अंतर्निहित ज्ञान (Intuition) के रूप में नहीं। मन को किसी वस्तु की जानकारी उसके आध्यात्मिक अर्थ में मन के अंतर्निहित नहीं है। जानने और अंतर्निहितता में यही अंतर है। मनोविज्ञान और प्राणी-विज्ञान इस मनःस्थिति वाले ज्ञान की स्वीकृति नहीं देते हैं। प्राणीशास्त्र बताता है कि संवेदन केवल विद्युत-रासायनिक क्रिया ही नहीं है, वह एक प्रक्रम (Stimuli) का फल है।

मनुष्य का ज्ञान उन्हीं अर्थों में प्रकृति का प्रतिनिधित्व करता है, जिस रूप में मनुष्य प्रकृति से संवेदित या अनुभावित होता है। मनोविज्ञान की यह बड़ी-भारी उपलब्धि रही है कि मन ज्ञान को प्रतिपादित करता रहता है। ज्ञान मानसिक प्रत्यक्षीकरण का चित्रात्मक अंकन है। प्रकृति मनुष्य के ज्ञान को विकासशील रूप से (बढ़ते हुए शान के रूप में) आकारित करती रहती है। ज्ञान की मूलतः यही स्थिति है। ज्ञानबोध एक तरह से प्रकृति के होने का प्रागानुमान करती है। यदि बाह्य जगत (प्रकृति) किन्हीं कारणों से अनुचित रूप से संवेदित हुआ है तो उसका असर मनुष्य द्वारा प्रतिपादित ज्ञान पर भी पड़ेगा। ज्ञान का स्वरूप भी विकृत होगा। संपर्क की विवर्तता ज्ञान की विवर्तता बन कर रह जाएगी। ज्ञान की अपनी प्रक्रिया के कारण ज्ञान एक रासायनिक क्रिया है।

बदलता संवेदन अथवा बदलते संवेदन के आंकड़े इस बात के लिए मजबूर करते हैं कि संवेदित आंकड़ों के बदलने पर मनुष्य को भी पूर्व-संवेदित आंकड़ों से निर्धारित ज्ञान को बदलना चाहिए। यदि मनुष्य ऐसा नहीं कर पाता है तो वह अनुचित बात है। वह उसकी आदत के कारण है।

दर्शन के इतिहास में ऐसी त्रुटि पाश्चात्य और पौर्वात्य, दोनों देशों के दार्शनिकों से हुई है।

ज्ञान के इस रूप को समझने के लिए हमें वस्तु और चीज के भेद को समझना होगा। वस्तु का अर्थ मनुष्य पर निर्भर होने वाली वस्तु न होकर उस वस्तु की साकार वास्तविकता को लेकर है। जैसे मेज है, चंद्रमा है, पृथ्वी है, सूर्य है और सारा ब्रह्मांड है। वस्तु को समझने के ज्ञान को वस्तुविज्ञान (Ontology) कहा जाता हैं।

वस्तु का बोध होता है। उसके बारे में हम जानते हैं। मेज वस्तु है। उसका ज्ञान ही 'चीज' है, वस्तु का जाना हुआ ज्ञान चीज है। वस्तु की प्रतीति ही चीज है। चीज का भी अपना विज्ञान है—चीजविज्ञान (Epistomology)। वस्तु और चीज में यही बड़ा भेद है। वस्तु का अस्तित्व साकार है, जैसा कि कहा गया है, पर चीज ऐहिक है। मन पर निर्मित होने वाली वस्तु की प्रतीति हमेशा अधूरी रहती है। चाहे वह मेज हो, चंद्रमा हो, सूर्य हो अथवा ब्रह्मांड हो। अधूरी प्रतीति मन के लिए पूरी प्रतीति होती है। उसी को लेकर मनुष्य अपने ज्ञान का सृजन करता है। पर, समयांतर में प्रतीति की परिधि अनेक कारणों से फैलती है। वस्तु की अनंतता के कारण प्रतीति का स्वरूप बदलते हुए भी, अधूरा होते हुए भी पूरा है। वस्तु प्रतीति नहीं है। उसका रूप अपने में परिपूर्ण होते हुए भी अधूरा रहने से ज्ञान की सापेक्षता बनी रहती है। जानी हुई प्रतीति का मन द्वारा विश्लेषित स्वरूप होता है।

इमेन्युअल कांट ने बोध की स्थिति को बड़े समंजस रूप से समझाने का प्रयास किया है। उन्होंने प्रकृति को मानवीय संदर्भ में दो भागों में विभाजित किया है। मन द्वारा जाने गए जगत को वह प्रतीयमान विश्व (Phenomenal World) कहता है और ज्ञान से परे जगत को अप्रतीयमान विश्व (Noumenal World), जिसकी जानकारी मनुष्य को नहीं रहती है। प्रतीयमान विश्व ज्ञान का दूसरा नाम है। ज्ञान की यह परिधि समयांतर में बदलती और फैलती रहती है। परंतु, अप्रतीयमान विश्व का रूप उसकी अनंतता के कारण अज्ञेय बना रहता है।

इस संबंध में जो बड़ी बात उभर कर सामने आई है, वह यह कि प्रतीयमान विश्व का स्वरूप हमेशा ज्ञेय बना रहता है—भौतिकता व कार्य-कारणता के रूप में। ज्ञान बढ़ती हुई प्रतीयमान विश्व की इस परिधि में भी ज्ञेयता, भौतिकता और कार्य-कारणता की स्थिति में कोई परिवर्तन या अपवाद नहीं मिलता। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि जो कभी अज्ञेय था, उसके ज्ञेय होने पर भी उसकी बनावट में आध्यात्मिकता नहीं है। सारी अज्ञेय प्रकृति अथवा अप्रतीयमान विश्व आवश्यक रूप से कार्य-कारणता से व्यवहृत है, नियमबद्ध है। इसमें कोई विवादैषणा नहीं है। ज्ञेयता और अज्ञेयता के रहस्य का परदा उठ गया है। यही मनुष्य के ज्ञानबोध (संज्ञान) का फैलता रूप है।

मनुष्य का समुचित ज्ञान अनुभवजनित है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अनुभव के साथ ही समाप्त हो जाता है। एक मकान पर व्यक्ति खड़ा है। मकान गिरेगा तो उसका क्या होगा? आप कहेंगे वह भी गिर जाएगा। परंतु, आपने इससे पहले मकान और उस पर खड़े आदमी को गिरते नहीं देखा है। इसलिए जब यह कहा जाता है कि ज्ञान अनुभव के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता, तो उसका अभिप्राय भी यही है।

मन का ज्ञानबोध परिपूर्ण भी होता है और नहीं भी होता। यही उसकी द्वंद्वात्मकता है। चीज की दृष्टि से ज्ञान परिपूर्ण है, वस्तु की दृष्टि से अधूरा। ज्ञान के अधूरेपन में वस्तुनिष्ठता हमेशा बनी रहती है।

मन को किसी वस्तु की जानकारी होने का अर्थ यह नहीं है कि 'ज्ञान मन की मनःस्थिति' है। वह मन की उपज है, पर दूसरे अर्थों में अंतर्निहित ज्ञान (Intuition) के रूप में नहीं। मन को किसी वस्तु की जानकारी उसके आध्यात्मिक अर्थ में मन के अंतर्निहित नहीं है। जानने और अंतर्निहितता में यही अंतर है। मनोविज्ञान और प्राणी-विज्ञान इस मनःस्थिति वाले ज्ञान की स्वीकृति नहीं देते हैं। प्राणीशास्त्र बताता है कि संवेदन केवल विद्युत-रासायनिक क्रिया ही नहीं है, वह एक प्रक्रम (Stimuli) का फल है।

अब तक के विश्लेषण से स्पष्ट हो गया होगा कि मनुष्य को ज्ञान की उपलब्धि कैसे होती है? मन की संश्लिष्टता के कारण उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है। मनुष्य जीवित प्राणियों में श्रेष्ठ प्राणी जो है।

ज्ञानबोध का मूल 'संसारी' है। इसलिए वह वस्तुनिष्ठ

भी है और 'आत्मिक' भी—जैसा कि कहा जा चुका है। मनुष्य को लेकर पहले कौनसी बात है? मनुष्य प्रकृति का ही अंग है। ऐसा भेद केवल समझ की स्थिति से ही किया गया है। मन का अस्तित्व शरीर के अंग के रूप में है, क्योंकि वह प्रकृति का अंग है। मनुष्य का शरीर, संवेदन, स्नायु संस्थान, समूचा ज्ञानबोध एक ही है। चेतना मन की ही विशिष्ट उपज है।

जानना मन की क्रिया है। समझ उस क्रिया का संपादित रूप है। सोचना मन की प्रकृति है। चाहे सोचने की विषयवस्तु कोई भी क्यों न हो। समझ मन की संपत्ति है। वह मन में रहती है। वह मन की अपनी उपज नहीं है। यही कारण है कि वस्तु समझ के रूप में मन में उपस्थित नहीं रहती है।

जानने की मानसिक प्रक्रिया अंदर से उद्‌भूत नहीं होती, उसका उपक्रम बाहर से है। समझ कभी भी प्राप्तकर्ता की 'प्राप्ति' नहीं होती। वस्तु से ही समझ की प्राप्ति होती है।

ज्ञानमीमांसा का मूल ज्ञानबोध और बाह्य संसार का संबंध है। इसलिए ज्ञान मानसिक भी है और वस्तुनिष्ठ भी। दोनों स्थितियों में ज्ञाता और ज्ञान को ज्ञान-संवेदित माना गया है। इसलिए चीजविज्ञान का आधार वस्तु (बाह्य-जगत) ही है। 'इन दोनों में पहले कौन?'—यह बात व्यर्थ है। मनुष्य प्रकृति का ही अंग है। यह भेद मूलतः समझ के लिए किया गया है। मन का अस्तित्व है, क्योंकि वह भौतिक जगत का अंग है। लगता है कि चेतन व्यक्ति प्रकृति से अलग रूप लिए है। पर, वैसा है नहीं। बाह्य-जगत एक भ्रामक शब्द है। मनुष्य के अनुभव प्रकृति के ही अंगभूत भाग हैं। मनुष्य का शरीर, संवेदना, स्नायविक संस्थान, समूचा ज्ञानबोध अवयवी मस्तिष्क-प्रवृत्ति के अंग हैं। मनुष्य जगत को बाहरी अस्तित्व के रूप में नहीं आंकता। मनुष्य का यह मन, मनुष्य के खयाल, मनुष्य की समझ-प्रकृति, उसकी दृष्टि अंतर्निहित नहीं हैं। इस स्थिति को अंतर्दृष्टि के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। मनुष्य की चेतना प्रकृति की एक विशिष्ट उपज है। विचार अस्तित्व को लेकर हैं। ज्ञानबोध का भौतिक परिवेश है।

जीवन मन की नींव है। जीवन की अनुपस्थिति में मन को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

जीवन भौतिक प्रकृति का प्रतीयमान होने के कारण मन की क्रिया है। मनुष्य के मन की क्रिया भौतिक है, जो बाह्य संवेदनों का प्रत्यक्षीकृत रूप है। प्रतीति, समझ, ज्ञानबोध, विचारणा आदि के अर्थ को समझने के लिए हमें आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ऊपर उठकर विचार करना होगा। यही कारण है कि चिंतन केवल आत्मपरक या आध्यात्मिक नहीं होता। मन की समस्त क्रिया बाह्य संदर्भित है।

समझ और खयाल में समरूपता बनी रहती है। पर, वह किन्हीं अर्थों, खयालों से प्रतिबंधित नहीं रहती। खयाल करना मन का गुण है, जबकि समझ मन द्वारा प्राप्त अधिकार है। वह मन की संपत्ति है, धरोहर है। दोनों अंतर मौलिक हैं। एक गुणात्मक क्रिया है। सोचना व चिंतन करना मन की प्रकृति है, चाहे फिर समझ का कोई रूप क्यों न हो। वह मन में बनी रहती है। पर वह मन की उपज नहीं। ज्ञान को बाहर से आवरण प्राप्त होता है। पर, यह नहीं भूलना चाहिए कि ज्ञान का प्रतिपादन मन के द्वारा होते हुए भी उसके उद्‌भव के बीज मन में नहीं होते हैं। ज्ञान के इस रूप को समझा जाना चाहिए। वह मन की अपनी प्राप्ति (Innate) नहीं है। समझ वस्तु के वास्तविक स्वरूप से अलग रूप लिए नहीं रह सकती। समझ संजोती है। प्रतीति वस्तु के संबंधों का परिणाम है। संवेदन के रूप में समझ और वस्तु में परस्पर समझ का तालमेल बना रहता है। पर, समझ के एक बार सृजित होने पर वह स्वतंत्र रूप प्राप्त कर लेती है। तब समझ ज्ञानबोध की प्रतिनिधि परत बनी रहती है। मन उसी परतज्ञान के कारण प्रकृति की समझ को लेकर उस पर विजय प्राप्त करता है। दूसरी ओर वस्तु समय के गर्भ में विलीन रहती है और स्वाभाविक नियमों के कारण उसका होना बना रहता है। जब तक वह स्वयं अपनी ही कारणता के कारण रूप-परिवर्तन नहीं कर लेती। समझ इस माने में एक मानसिक वस्तु है। एक प्रकार की प्रतीत्यात्मकता है। वह उसका मानसिक तौर पर वास्तविक रूप है। आनुवंशिकता के रूप में वह अपने में स्वनिर्भर है और मानसिक क्रिया के रूप में सक्रिय है। वह मानसिक क्रिया के रूप में ज्ञानबोध को बदलता है। यदि ऐसा नहीं होता तो मानसिक क्रिया स्थाई रहती। विचार ज्ञान का सार होने के कारण समझ के रूप में साथ बदलता रहता है। क्योंकि समझ बाह्य जगत की उपज है। उसी से समझ की इकाई में तेजी आती है। मन जानने का अवयवी गुण है। समझ जितनी ज्यादा होगी, गुणवत्ता उतनी ही तीव्र होगी। आदिम चेतना मन की नींव है। साथ में वह समझ की सरलतम अवस्था भी है। वह अपने-आप में अवयवी है। वह पदार्थ के रूप में यांत्रिक है। ऐसा मस्तिष्क में विशिष्ट रासायनिक प्रक्रियाओं के कारण होता है।

शेष पृष्ठ 55 पर

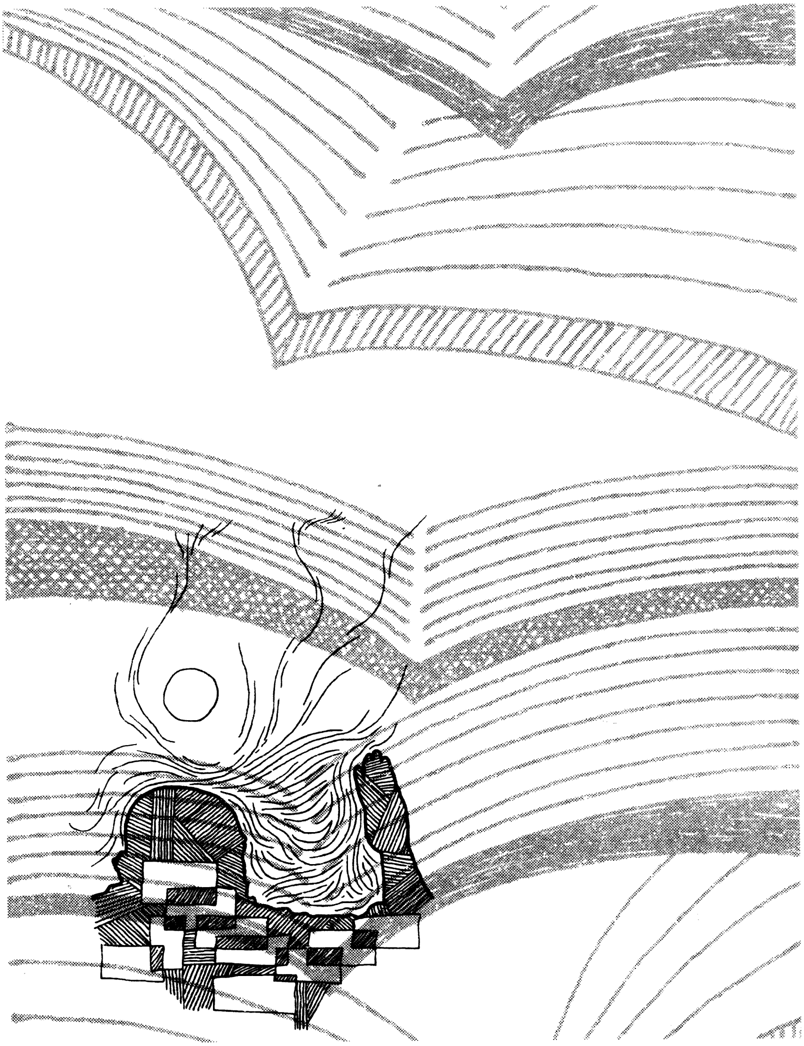

अनुभूति

क्या अपनी बहादुरी प्रमाणित करने के लिए खतरों का सामना करना जरूरी है? और वह खतरा किस प्रकार का होना चाहिए? क्या बहादुरी सिद्ध करने के मापदंड के लिए कोई पारंपरिक खतरा होता है? मान लीजिए कि खतरा बहुत ज्यादा हो और उतना जोखिम उठाना ठीक न हो, तो क्या वहां से भाग जाने या छिप जाने से हमारा बहादुरी का दावा खतम हो जाएगा? क्या खतरे के सामने अड़े रहना, कभी-कभी मूर्खता नहीं कहलाएगा?

और कांपने या थरथराने के लिए आप क्या कहेंगे? या डर लगने के प्रति आपके क्या विचार हैं, क्या इनसे आपकी बहादुरी को आंच नहीं आती? या इससे बहादुरी का दावा खतम नहीं हो जाता? या सच इसका उलटा है? क्या असली बहादुर के लिए डर जरूरी है?

—गैरेथ बी. मैथ्यूज

परिवर्तन की दिशाएं : कुछ पहलू

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

मानव विविध-जातीय संस्कारों का संग्रहालय है। भलाई और बुराई—दोनों के बीज उसमें अंकुरित होते हैं। परिस्थितियां निमित्तमात्र हैं, पर उनका सहयोग पाकर बीज अंकुरित हो जाता है। फिर भी हम जानते हैं कि परिस्थितियों की अपेक्षा व्यक्ति अधिक बलवान होता है। चाहे तो वह उनसे अप्रभावित भी रह सकता है। यह भी सच है, उनकी सर्वथा उपेक्षा भी नहीं की जा सकती।

आज का युग नाना प्रकार के वादों का केंद्र बन रहा है। कभी धार्मिक मतवादों का युग भी हुआ करता था। आज प्रत्येक समस्या को राजनीतिक स्तर पर सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है। राजनीति की धुरी अर्थ-तंत्र है। इसलिए आज का युग राजनीतिकवाद या अर्थवाद का अखाड़ा बन रहा है। विचारों और वादों का इतना संघर्षण है कि उनकी चिंगारियां अग्नि को शांत नहीं होने देतीं। अपने-आप को भुलाकर दूसरों को जगाने की जो वृत्ति आज नजर आती है, वह पहले कभी इतनी उग्र रही हो—ऐसा नहीं मिलता। विश्व-शांति की मांग भी आज अभूतपूर्व है।

यह विज्ञान का युग भी है। प्रत्येक तथ्य कसौटी पर कसा जाता है। अब श्रद्धा को विशेष स्थान नहीं रहा। पुरुषार्थ की गाथाएं गाई जाती हैं, किंतु आदर्श के रूप में। कार्य-रूप में पहला स्थान परिस्थितियों का है। 'परिस्थितियां ऐसी हैं, हम क्या करें?'—यह उत्तर बिना किसी कठिनाई के सुना जा सकता है। व्यक्ति अच्छे या बुरे कार्य करता है। उनके अच्छे या बुरे परिणाम भी होते हैं। अच्छे कार्यों और उनके अच्छे परिणामों का दायित्व वह स्वयं लेना चाहता है, पर बुरे कार्यों और उनके बुरे परिणामों का दायित्व वह दूसरों पर डाल देता है। और कोई न मिले तो परिस्थितियां तो हैं ही। वे कभी इस प्रवृत्ति का विरोध तक नहीं करतीं। यह क्या है—परिस्थितिवाद या पुरुषार्थवाद? यह सही है कि परिस्थितियां व्यक्ति को प्रभावित करती हैं, किंतु तभी, जब उपादान शक्तिहीन होता है। समर्थ व्यक्ति परिस्थितियों का दास बनकर कभी नहीं चलता। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियां न्यूनाधिक मात्रा में सब जगह और सबके जीवन में सदा रहती हैं। उनसे भय खाने वाले लड़खड़ा जाते हैं और उनसे जूझने वाले विजयी बन जाते हैं। लड़ने की दो पद्धतियां

व्यक्ति को समाज व समाजजनित परिस्थितियों से बद्ध मानने वालों की दृष्टि में परिवर्तन की दिशा सामूहिक ही हो सकती है, वैयक्तिक नहीं। स्थितियां बदलने पर व्यक्ति को स्वयं बदलना पड़ता है। व्यक्ति का हृदय बदलना ऐच्छिक है। समाज की मर्यादा बदलने पर व्यक्ति का बदलना अनिवार्य है। जब कभी समाज में परिवर्तन आया, वह जनता की सामूहिक क्रांति से आया, व्यक्ति-व्यक्ति के परिवर्तन से नहीं। जन-क्रांति को ही दूसरे शब्दों में सत्ता की क्रांति समझिए। परिवर्तन की अनिवार्यता सत्ता में है। जब तक सत्ता ऊपर से नीचे की ओर नहीं सरकती, तब तक मौलिक परिवर्तन नहीं आता।

हैं—पहला मार्ग बल-प्रयोग का है। इसमें बुराई न मिटने की स्थिति में बुरे को मिटाने की क्षमता है। दूसरी जो पगडंडी है—वह संकरी है, उसमें बुरे को मिटाने की कल्पना तक नहीं होती।

व्यक्ति की अपनी दुर्बलताएं होती हैं—काम-वासना, क्रोध, लालच, आराम-तलबी आदि-आदि। जो इन पर नियंत्रण पा जाता है, उसे परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, पर वे उसे दबा नहीं सकतीं। जो अपनी आंतरिक दुर्बलताओं पर नियंत्रण करना नहीं जानता या नहीं चाहता, उसे परिस्थितियां निगल जाती हैं। परिस्थितिवाद ही निराशावाद है। इसकी परंपरा निरंतर चलती है। पुराने लोग कर्मवाद या भाग्यवाद की ओट में अपनी कमजोरियों को पालते थे। आज उनका लालन-पालन परिस्थितिवाद के सहारे हो रहा है। यह सच है कि कर्म, भाग्य और परिस्थिति का अपना-अपना स्थान है, किंतु व्यक्ति उनसे घबराकर अपना पुरुषार्थ खो बैठे—यह अस्थानीय है। सार यही है कि सब बुराइयों की जड़ व्यक्ति की अपनी दुर्बलताएं हैं। परिस्थितियां उनको पोषण देती हैं, उन्हें मूर्त बनाती हैं। क्रोध व्यक्ति की दुर्बलता है, किंतु उसे उभारने वाली स्थिति बने बिना वह मूर्त नहीं बनता। गाली सुनते ही वह भभक उठता है। परिस्थिति ने इतना किया कि छिपी हुई बुराई को उभार दिया। बुराई को नए सिरे से उत्पन्न करने की शक्ति उसमें नहीं होती।

मूल में भूल है। युग का प्रमुख विचार बन रहा है—परिस्थितियों को सुधारो। तात्पर्य कि बुराई की शाखा को मिटा दो। होना यह चाहिए कि बुराई के मूल को सुधारो। मूल सुधारे बिना शाखाएं बनती-बिगड़ती रहेंगी, अर्थ कुछ नहीं निकलेगा। परिस्थितियां परिवर्तित होती रहती हैं। एक परिस्थिति में सुधार आता है और उससे पोषण पाने वाली बुराई छिप जाती है। दूसरी परिस्थिति बनती है और दूसरे प्रकार की बुराई साकार बनने लग जाती है। अच्छे कपड़े चाहिएं, गहने चाहिएं, सौंदर्य-प्रसाधन की सामग्री चाहिएं, साज-सज्जा की वस्तुएं चाहिएं, वह सब-कुछ चाहिए जो दूसरों को सुलभ है। यह सब अनीतिपूर्ण कार्यों से ही संभव है। धन का संग्रह बढ़ता है, तो सुविधाएं भी बढ़ती हैं। स्थिति का चक्का घूमता है और उस पर विलास छा जाता है। एक परिस्थिति में रोटी की समस्या है। दूसरी स्थिति में उसका समाधान मिलता है। नई स्थिति नई समस्या को जन्म न दे, यह असंभव-सी बात है। यह मानना होगा कि परिस्थिति के परिवर्तन से नई परिस्थिति उत्पन्न होती है, किंतु व्यक्ति परिस्थिति के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता।

कुछ समस्याएं दैहिक होती हैं और कुछ मानसिक। कई बाहरी (पर-कृत) होती हैं और कुछ आंतरिक (स्वकृत)। कुछ सामूहिक होती हैं और कुछ वैयक्तिक। दैहिक, बाहरी और सामूहिक समस्याओं को प्राथमिकता मिलती है। दैहिक समस्याएं न सुलझें तो देह टिके कैसे? बाहरी समस्याएं सहज बुद्धिगम्य हो जाती हैं—उनकी बुराई समझने में कोई तार्किक कठिनाई नहीं होती। सामूहिक समस्याएं विस्फोट कर सकती हैं। यही कारण है कि मनुष्य की सारी चेष्टाएं इनके समाधान की ओर मुंह किए चल रही हैं। रोटी की समस्या, कपड़ा और मकान की समस्या—ये एक कोटि की समस्याएं हैं। दूसरी कोटि की समस्याएं हैं—सौंदर्य और विलास के साधनों की दुर्लभता। सामाजिक समस्याओं से भी कौन बच सकता है?

इन्हें सुलझाने के लिए भिन्न-भिन्न शासन-पद्धतियां, नागरिक सभ्यता और सामाजिक सुधार के कार्यक्रम चलते हैं। किंतु, मानसिक, आंतरिक और वैयक्तिक समस्याओं की उपेक्षा हो रही है। दैहिक आवश्यकताएं पूरी हो जाती हैं, फिर भी उत्तरोत्तर अतृप्ति बढ़ती है। अमुक रोग या अमुक स्थिति में अमुक पदार्थ खाना हितकर नहीं, किंतु वह स्वादिष्ट है, इसलिए खा लिया जाता है। अधिक अब्रह्मचर्य से शारीरिक और मानसिक शक्तियां क्षीण होती हैं, किंतु संयम नहीं रहता। अनावश्यक संग्रह से चिंता, भय और प्रतिशोध बढ़ते हैं, किंतु उसके बिना मानसिक संतुष्टि नहीं होती।

बाहरी और सामूहिक समस्याएं परिवर्तित होने पर क्या व्यक्ति आनंद से भर जाता है? ऐसा नहीं होता। महत्त्वाकांक्षा केवल उन्नति की आकांक्षा नहीं, किंतु सर्वोच्च बनने के लिए दूसरों को गिराने की प्रवृत्ति, यशोलालसा, ईर्ष्या, असहिष्णुता आदि-आदि ऐसी वृत्तियां हैं, जो व्यक्ति की आंतरिक शांति को कुरेदती रहती हैं।

सर्वसुविधा-संपन्न राष्ट्र के नागरिक, जिन्हें जीवन की अनिवार्यताएं नहीं सतातीं, क्या इन वृत्तियों से मुक्त हैं? पर्याप्त सुविधाएं मिलने पर भी उनमें संयम की चेतना न जागे तो शांति नहीं आ सकती। संपन्न व्यक्तियों के जीवन में भी उलझनें आती हैं। कई चिंता में प्राण होम डालते हैं। कई आत्महत्या करने से भी नहीं चूकते।

मोटर का ड्राइवर चाहता है कि मैं सेठ जैसा धनी बनूं और सेठ मन-ही-मन प्रार्थना करता है कि मुझे ड्राइवर जैसी निश्चिंत नींद आए। ड्राइवर शांति की कीमत पर सुविधा चाहता है। ....यह सच है कि सुविधा का स्वाद चखे बिना शांति का मूल्य समझ में नहीं आता। अभाव में प्रत्येक वस्तु मूल्यवान बन जाती है। शांति की खोज सुविधाओं के अभाव से नहीं निकलती। वह उनके अतिरेक से उत्पन्न होती है। इतिहास देखिए—बड़े-बड़े धनपति सुविधाओं का भोग करते-करते थक गए, तृप्ति नहीं मिली। उस अतृप्ति ने उन्हें तृप्ति का मार्ग ढूंढ़ने को प्रेरित किया और वे सुविधाओं को ठुकराकर कठोरपथ की ओर चल पड़े। त्याग की अकिंचनता ने उन्हें तृप्त बना दिया। पदार्थ का अभाव सताता है, उसका भाव असंतोष पैदा करता है। इसके बरक्स संयम से व्यक्ति स्वस्थ बनता है।

तृप्ति अभाव में भी नहीं है और भाव में भी नहीं है—यह उनसे परे है। यह जो परे की वृत्ति है—वही हृदय-परिवर्तन है। समस्या यह है कि अमूमन व्यक्ति की धन में ही निष्ठा होती है। ऐसे व्यक्ति सुविधाओं को ही सर्वस्व मान बैठते हैं। धन से परे भी सुख-शांति है—यह उनकी समझ से परे है। दूसरी ओर धनपति पूंजी के दल-दल में फंसे हुए हैं। उनकी शांति की चाह सुविधा के व्यामोह को चीरकर आगे नहीं बढ़ पाती। चारों ओर ऐसा व्यामोह है कि जीवन के मूल्य अनीति के पोषक बन रहे हैं। इस स्थिति में हृदय-परिवर्तन का प्रश्न बड़ा जटिल बन जाता है। इसे जटिल बनाने वाला दूसरा एक कारण और भी है। धनपतियों के शोषण ने गरीबों के दिल में प्रतिशोध की भावना उत्पन्न कर दी। अब ये केवल धनपतियों के ही विरोधी नहीं, किंतु उनकी मान्यताओं के भी विरोधी बन गए। धनपति अध्यात्म और संतोष की बातें करते हैं, तो उन्हें वह ढकोसला लगता है। धर्म को भी वे शोषण का आलंबन मान बैठे हैं। उनके मानने के पीछे एक तथ्य भी है। शोषण से धन-संग्रह करते हैं और थोड़ा धन खर्च कर वे धर्म-वीर बन जाते हैं। धर्म-आराधना की यह सीधी क्रिया उन्हें शोषण से दूर होने का अवसर ही नहीं देती।

आज के विश्व-मानस का अध्ययन कीजिए। आत्मा, धर्म, ईश्वर, परलोक, सद्गति और पारमार्थिक शांति की चर्चा किसी को भाती ही नहीं। हृदय-परिवर्तन की अपेक्षा उन्हें है, जो आत्मशांति में विश्वास रखते हैं। हिंसा को अशांति बढ़ाने वाली मानते हैं। जिनका भावी जीवन से कोई लगाव नहीं, विश्वास नहीं। चालू जीवन में हिंसा द्वारा सुविधाएं सुलभ हो जाती हैं, तब उन्हें हृदय-परिवर्तन की बात कैसे रुचेगी? भौतिक सुख-सुविधाएं ही जिनका चरमसाध्य है, वे अहिंसा को क्यों महत्त्व दें। साफ है कि अधिक चोर-बाजारी करने वाले अधिक धनी बनते हैं। जो भलाई को लिए बैठे रहे, वे मुंह ताकते ही रह गए। दुनिया धन से बिक चुकी। चोर-बाजारी करने वाले बड़े हैं। भलों को पूछे कौन? उनके पास वैसा कुछ है भी नहीं। वे न किसी को नौकरी दे सकते, न रिश्वत, न सहायता, न चंदा, न प्रीतिभोज। दूसरे भले क्यों बनें? आखिर उन्हें भला बनने से क्या लाभ? भलाई के साथ सहानुभूति है? पुराने संस्कार शब्दों में उतर आते होंगे, आचरण में तो नहीं हैं। भलाई को प्रोत्साहन कैसे मिले? जो दुनियावी बातों से लगाव रखते हैं, एषणाओं में रस लेते हैं; यश, प्रतिष्ठा, संतान और सुविधाएं चाहते हैं—वे भले नहीं बन सकते।

भले आदमी उस दुनिया के प्राणी हो सकते हैं, जिन्हें इन बातों से कोई लगाव नहीं। पदार्थ की, मान-सम्मान की, बड़प्पन की निरपेक्षता विरक्ति से आती है। विरक्ति मोह के न्यून होने से आती है और मोह की न्यूनता, आत्मा और पुद्गल (चेतन और अचेतन) का भेद जानने से होती है। हृदय-परिवर्तन का असली रूप यही निरपेक्षता है। सामाजिक जीवन रहा सापेक्ष। निरपेक्षता है—वैयक्तिक जीवन की स्थिति। एक सामाजिक व्यक्ति उसे कैसे स्वीकार कर ले? इस बिंदु पर विचार रुक जाता है। वर्तमान समस्याओं का मूल यही लगता है।

सापेक्षता के एकांगी स्वीकार से कठिनाइयां बढ़ती हैं। सापेक्षता से स्पर्धा, स्पर्धा से हिंसा और हिंसा से अशांति—यह क्रम चल रहा है। हिंसा को प्रयोज्य मानने वाले भी शांति में विश्वास रखते हैं, विसैन्यीकरण या सैन्य के अल्पीकरण और निरस्त्रीकरण की चर्चा करते हैं। तब लगता है—हिंसा में उनका विश्वास तो नहीं है। वे उसे अच्छी भी नहीं समझते। वे सिर्फ विवशता की स्थिति में उसके प्रयोग का समर्थन करते हैं। जैसे—कई धार्मिक संप्रदायों ने 'आपद्-धर्म' के रूप में हिंसा का समर्थन किया। रूप में थोड़ा अंतर है, भावना में शायद नहीं। आपद्-धर्म आक्रमण के प्रतिकार के लिए हिंसा का समर्थन करता है और आज का नयावाद जीवन की अव्यवस्था के प्रतिकार के लिए। आखिर हिंसा, जो सबके लिए खतरा है,

उत्तम मार्ग तो हो ही नहीं सकता। हिंसा करने वाले के विरुद्ध भी तो हिंसा बरती जा सकती है। हिंसा बुराई का प्रतिकार नहीं, बुरे व्यक्ति का प्रतिकार है। बुरा कौन नहीं? न्यूनाधिक मात्रा में सब बुरे हैं। हृदय-परिवर्तन का मार्ग है—बुराई मिटे, बुरे भले बन जाएं। व्यक्ति को मिटाने की परंपरा गलत है। मिटाने की जो प्रकृति बन जाती है, वह फिर बुरा-भला नहीं देखती। अपने को नहीं रुचा, उसी को मिटाने की भावना उभर आती है।

विवशता व्यक्ति को क्रूर बनाती है। क्रूरता हिंसा बन फूट पड़ती है। ऐसी स्थितियां पहले भी हुईं, अब भी होती हैं और कभी भी हो सकती हैं। कारण साफ है—हिंसा प्रतिशोध लाती है। हिंसा के प्रति हिंसा बनती है। शोषण, क्रूरता और दुर्व्यवस्था करने वालों के प्रति हिंसा बढ़ती जाती है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं, किंतु हिंसा के प्रयोग को दार्शनिक व सैद्धांतिक रूप जो मिलता है, वह कुछ आश्चर्य जैसा है। कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहेगा कि उसके विरुद्ध कोई हिंसा बरते। दल या राष्ट्र के लिए भी यही बात है। सहजतया कोई हिंसा करना भी नहीं चाहता। बड़ी हिंसा की प्रेरणा काल्पनिक स्वार्थों से मिलती है।

व्यक्ति समाज में बंधता जरूर है, किंतु मूल प्रकृतियों में परिवर्तन नहीं आता। वह राष्ट्रीय रूप में व्यापक बनता है, किंतु वह अपने राष्ट्र की परिधि में बंधकर अति-राष्ट्रीयतावादी बन जाता है। अपना प्रांत, अपना गांव, अपना घर, अपना परिवार, अपना शरीर—इस प्रकार की विभाजक मनोवृत्ति उसे सही मानी में व्यक्ति ही बनाए रखती है। सामाजिकता सिर्फ काल्पनिक या कार्यवाहक जैसी होती है। अपने लिए समाज से कुछ मिलता है, तब तक वह सामाजिक बना रहता है। जहां अपने स्वार्थ की क्षति मालूम होती है, वहां समाज उसके लिए कौड़ी के मूल्य का भी नहीं होता। इस अति-स्वार्थवाद से ही विषमताएं और शोषण आदि बुराइयां बढ़ती हैं। वैयक्तिक-रूप संकुचितता उत्पन्न करता है, किंतु वह वस्तुस्थिति है। उसे मिटाया नहीं जा सकता। अपने शरीर, अपनी पत्नी और अपने पुत्र के प्रति या साधारणतया अपनी रुचि के अनुकूल पदार्थ के प्रति जो ममता होती है, वह दूसरों के प्रति नहीं हो सकती। वैयक्तिक संपत्ति के प्रति जितना ध्यान दिया जाता है, उतना सामाजिक संपत्ति के प्रति नहीं। 'मेरी है,' 'इसका लाभ मुझे मिलेगा'—इसमें कोई विकल्प नहीं होता। 'सबकी है', 'इसका लाभ सबको होगा'—यहां अनेक विकल्प खड़े हो जाते हैं। जैसे—फिर मैं अकेला इसकी चिंता क्यों करूं? मैं अधिक श्रम क्यों करूं? मैं स्पर्धा क्यों करूं? मैं लेखा-जोखा क्यों करूं?

वैयक्तिक सत्ता कोई बुरी वस्तु नहीं है, अगर वह हित-अहित के दायित्व के रूप में हो। व्यक्ति के अच्छे और बुरे कार्य का परिणाम आज या आगे उसी से होगा—यह धारणा व्यक्ति को बुराई से बचाती है। कार्य के परिणाम का दायित्व व्यक्ति पर नहीं रहता, तब अच्छाई में उसे रस नहीं आता और बुराई से वह सकुचाता नहीं। इंद्रियां लोलुप होती हैं और मन चपल। उन्हें इच्छापूर्ति के सुंदर से सुंदर साधन चाहिएं। कार्य का परिणाम भुगतने की चिंता नहीं होती, तब उनकी प्राप्ति की बात मुख्य होती है। वे कैसे मिलते हैं—यह बात मुख्य नहीं होती। इसी मनोवृत्ति ने मनुष्य को भोगी बना रखा है। हृदय-परिवर्तन का अर्थ है—त्याग की ओर झुकाव। त्याग में व्यक्ति का अकेलापन निखरता है। यह हो नहीं रहा है। आचार्यश्री तुलसी के शब्दों में—'व्यक्ति समाजवाद के क्षेत्र में व्यक्तिवादी और व्यक्तिवाद के क्षेत्र में समाजवादी बन जाता है।'

धन का संग्रह करते समय वह यह नहीं सोचता—सबके पास इतना संग्रह नहीं है या सब इतना संग्रह नहीं करते—मैं अकेला यह क्यों करूं? यह व्यक्तिवादी मनोवृत्ति समाज की ओर नहीं झांकती। भलाई के स्वीकार में व्यक्तिवादी मनोवृत्ति होनी चाहिए, जबकि वहां सोचने का ढंग यह होता है कि दूसरे लोग अन्याय से पैसा कमा कर आनंद लूटते हैं, तब मैं ही क्यों उससे बचने का प्रयत्न करूं? यहां हृदय-परिवर्तन की स्थिति स्पष्ट होती है। व्यक्ति आत्मानुशासन के द्वारा ही बुराई से बच सकता है। आत्मानुशासन के दो स्रोत हैं—आत्म-समर्पण और आत्म-नियंत्रण। आत्म-समर्पण से सहयोग और प्रेम बढ़ता है, आत्म-नियंत्रण से विशुद्धि। आत्मानुशासन में कर्तव्य धर्म की निष्ठा होती है, इसलिए वह दूसरे की बुराई को अपनी बुराई के लिए प्रोत्साहित नहीं होने देता। व्यक्ति का यह रूप तब समझ में आता है, जब हम उसे परिस्थितियों से नियंत्रित न मान उनसे स्वतंत्र भी मानते हैं। इसके अनुसार निरपेक्षता व्यक्ति का स्वतंत्र मूल्य है, उपचरित मूल्य है—सापेक्षता। नग्नता स्वाभाविक है और लज्जा उपचरित। नग्नता निरपेक्ष है और लज्जा सापेक्ष। लज्जा की मर्यादा के बारे में सब एकमत नहीं हो सकते, किंतु नग्नता सहज है—इसमें दो मत होने की बात नहीं।

देश, काल और स्थिति के अनुसार मनुष्य, समाज के संस्कार बनते-बिगड़ते हैं। उनकी सच्चाई की कसौटी रुचि बन सकती है, जो मान्यता का सत्य है। वस्तु-स्थिति का संस्कार से लगाव नहीं होता।

व्यक्ति को समाज व समाजजनित परिस्थितियों से बद्ध मानने वालों की दृष्टि में परिवर्तन की दिशा सामूहिक ही हो सकती है, वैयक्तिक नहीं। स्थितियां बदलने पर व्यक्ति को स्वयं बदलना पड़ता है। व्यक्ति का हृदय बदलना ऐच्छिक है। समाज की मर्यादा बदलने पर व्यक्ति का बदलना अनिवार्य है। जब कभी समाज में परिवर्तन आया, वह जनता की सामूहिक क्रांति से आया, व्यक्ति-व्यक्ति के परिवर्तन से नहीं। जन-क्रांति को ही दूसरे शब्दों में सत्ता की क्रांति समझिए। परिवर्तन की अनिवार्यता सत्ता में है। जब तक सत्ता ऊपर से नीचे की ओर नहीं सरकती, तब तक मौलिक परिवर्तन नहीं आता। शोषक-वर्ग का शासन शोषित-वर्ग की कठिनाइयों को नहीं समझ सकता। शोषित और शोषक का वर्ग-भेद तभी मिट सकता है जब सत्ता शोषक के हाथ से शोषित के हाथ में आ जाए।

यह भी परिवर्तन है—हृदय का नहीं, किंतु परिस्थिति का। हृदय का परिवर्तन व्यक्ति के अपने विवेक से होता है और स्थिति का परिवर्तन सत्ता से। सत्ता विवेक-शून्य होती है, उसमें परिवर्तन की मौलिकता को देखने की दृष्टि नहीं होती, इसलिए उसमें चलते-चलते विकार आ जाता है। राजतंत्र का इतिहास देखिए। वह किस रूप में चला और उसकी अंत्येष्टि किस रूप में हुई। हृदय-परिवर्तन में सामूहिक स्थिति के परिवर्तन की अनिवार्यता नहीं है, किंतु यह एक दिशा है, जो सर्वव्यापी न होने पर भी सबको सही मार्ग दिखा सकती है। संस्कार-परिवर्तन से विचार-परिवर्तन, विचार-परिवर्तन से हृदय-परिवर्तन, हृदय-परिवर्तन से स्थिति का परिवर्तन होता है। यह क्रम अच्छाई और बुराई, दोनों का है। शोषण के लिए हृदय में स्वार्थ चाहिए और उसे छोड़ने के लिए परमार्थ। अपनी सुख-सुविधाओं के लिए दूसरे की सुख-सुविधाओं को न लूटने की वृत्ति जाग जाए, वैसा संस्कार बन जाए, यही हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत है। यह विवाद से परे का वाद है, इसलिए इसकी सबको अपेक्षा है। ❖

घर–परिवार और मित्र–परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक–नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म–दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

हमारा कर्तव्य : एक चिंतन

भगिनी निवेदिता

एक समय था जब हिंदुस्तान की परिस्थिति अत्यंत बुरी रही थी। यहां के लोग प्राचीन और अर्वाचीन उभय संस्कृतियों के प्रति समानरूपेण उदासीन थे। जिस भूमि में—समस्त संसार में से—समस्त कर्मों से आत्मा को निवृत्त करना ही जीवन का महान विचार सहस्रों वर्षों से माना जाता रहा, वहां लोगों की समस्त शक्ति को एकाएक कर्मशीलता और परस्पर सहकारिता में लगाना सरल बात नहीं थी। फिर भी भारतीय समाज के मूल आधार में ऐसी पर्याप्त शक्ति है कि भुखमरी और विफल आशा से उत्पन्न नैतिक पतन के होते हुए भी वह नवयुग के द्वार पर खड़ा है। कहा जा सकता है कि अमावस्या निकल चुकी है और द्वितीया का चंद्रमा दर्शन देने वाला है। समुद्र की उतार की वेला समाप्त हो चुकी, अब चढ़ाव की वेला आ गई है। दैव की अद्‌भुत लीला का श्रीगणेश होने जा रहा है। बीसवीं शती के आरंभ का सिंहावलोकन कर अब अपनी यथार्थ स्थिति को पहचानना रहा है।

समग्र भारतीयों का भारतीयकरण हो, नसों-नसों में राष्ट्रीयता का रक्त प्रवाहित हो, राष्ट्रीय चिंतन अनुशासित हो। अपने संचलन की दिशा हम निर्धारित करें, हमारे लिए कोई और निर्देश दे—ऐसी स्थिति न हो। हम अपने कार्यक्रम स्वयं अपनी प्रज्ञा से निर्धारित करेंगे। हम नीतियों का पालन नहीं, स्वयं निर्धारण करेंगे। दस रुपट्टी की नौकरी के लिए तैयार करने वाली प्रक्रिया को 'शिक्षा' कहने को हम कदापि तैयार नहीं। हम इन सबका यथार्थ मूल्य पहचान कर उन्हें यथास्थान रखेंगे।

माया को समझना ही माया का विनाश है, ऐसा कहा जाता है और यह अक्षरशः सत्य है। जिस संकट अथवा कठिनाई से संभ्रमित व व्यामोहित न होकर हम उसके परिहार के विषय में सोचने लगें, तो समझ लीजिए वह परास्त हो गई। रोग का यथार्थ निदान हो गया, तो आधा रोग दूर हो गया। अपनी पराजय का सही आकलन करना ही उसे विजय में परिणत करने का प्रथम चरण है। समग्र राष्ट्र एक साथ—छोटे-बड़े, उच्च-नीच सब—जब अपनी परिस्थिति का सम्यक् आकलन करने में, निर्मल एवं निर्भ्रम दृष्टि से निःसंदिग्ध होकर जुट जाते हैं, तब समझना चाहिए कि अपेक्षित घटना-क्रम शीघ्र ही अवतरित होने वाला है।

विवेक-बुद्धि परमोच्च आध्यात्मिकता का चिह्न है। संसार की एकमात्र दुर्धर्ष, अदम्य, अप्रतिहत शक्ति है। आध्यात्मिकता की, समग्र राष्ट्र की जागृति जीवन चैतन्य शक्ति अरण्य के दावानल के समान भड़क उठती है। यदि उसको नीचे दबाने का प्रयास किया गया तो वह दुगुने बल से ऊपर उठती है। कहा गया है—'अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेनधिः शिखा यान्ति कदाचिदेव', अर्थात् मशाल यदि नीचे कर दें, तो ज्वाला ऊपर की ओर उछलती है।

ईसवी सन् 1858 के पश्चात्

हिंदुस्तान को आधुनिक चेतना या जागृति को आत्मसात् करना अनिवार्य हो गया था। यहां पर आकर मध्ययुग समाप्त हो गया। मध्ययुग के पृथ्वीराज और शाहजहां, अशोक और अकबर को समान रूप से लोग भूल गए। रह गई वह भूमि, जिस पर उन्होंने प्रेम किया। रह गए वे लोग, जिनका उन्होंने नेतृत्व किया। उन लोगों के सामने नया कर्तव्य आया, नई परिस्थिति से संघर्ष कर सफल व असफल होने की चुनौती आई। गंगा-यमुना के प्रवाह जिस प्रकार भिन्न-भिन्न रंगों के, वैसे ही ये मध्ययुगीन और अर्वाचीन प्रवाह थे। ये दोनों प्रवाह संगमित होकर भागीरथी बनकर जिस प्रकार सागर की ओर जाते हैं, वैसे ही मध्ययुगीन एवं अर्वाचीन चेतनाओं के संयुक्त प्रवाह की भागीरथी भारतवर्ष को भाग्य सागर की ओर अवश्यमेव ले जाएगी। पौर्वात्य एवं पाश्चात्य संस्कृतियों का मधुर मिलन भारत की पुण्यभूमि में इसी तीर्थराज में होगा।

फिर भी, अद्यापि संक्रमण के अवसान की स्थिति में राष्ट्रीय मस्तिष्क को समस्या का यथार्थ बोध हो नहीं पाया है, अतः कार्य का स्वरूप अभी स्पष्ट नहीं हुआ है। निराशा और भय की प्रथम स्थिति आज निकल चुकी है। राष्ट्र अब अंधे के समान खाई में नहीं गिरेगा। राष्ट्र में नवशक्ति का संचार हो रहा है, भूत एवं वर्तमान का सर्वेक्षण कर भविष्य के लिए साधन एवं नीति निर्धारित हो रही है।

नवयुग के विशिष्ट लक्षण कौनसे हैं, निश्चित समस्या क्या है? इनकी परिभाषाएं प्रायः अविचारी और अतिरेकी होती हैं। फिर भी इस विषय से संबद्ध कुछ तथ्य और विचार यथार्थतः प्रस्तुत करना असंभव अथवा कठिन नहीं है। अर्वाचीन युग की उल्लेखनीय बात है—समग्र संसार की भौगोलिक मर्यादाओं का ज्ञान। अर्वाचीन मानव का एक लक्षण, जो उसे पूर्वकाल के मानव से अलग करता है—वह है उसकी इस समग्र पृथ्वीग्रह को जानने, सर्वेक्षण करने और सुनिश्चित करने की क्षमता। वाष्प-शक्ति का अन्वेषण तथा उसके फलस्वरूप संयान (Railway) और वाष्पपोत (Steam ship) के आविष्कार से निस्संदेह इस समन्वेषण (Exploration) में सहायता मिली। लोगों का आवागमन बढ़ा, भिन्न-भिन्न संस्कृति और विचारों के लोगों का संपर्क बढ़ा, संघर्ष भी हुआ। संस्कृतियों का अध्ययन होकर त्याज्य और ग्राह्य का विवेक जाग्रत हुआ। क्षितिज विस्तृत हुआ, किसी प्रश्न की ओर स्थानिक दृष्टि से न देख, व्यापक दृष्टि से देखने का अभ्यास हुआ; स्थानिक पूर्वाग्रह का दोष दूर हुआ। इस कारण अर्वाचीन संस्कृति, विज्ञान ने जन्म लिया। इस विविधतापूर्ण सृष्टि का, इस विश्व का मूल क्या, उद्‌गम किसमें—इसका अन्वेषण आरंभ हुआ।

इस प्रकार भौतिक एवं भौगोलिक आविष्कार के पीछे-पीछे बौद्धिक और आध्यात्मिक अन्वेषण भी आया। संस्कृति के क्षेत्र में नवयुग, नवीन मन्वंतर की घोषणा हुई। किसी एक बात, एक विषय का परम-ज्ञान होना अब पर्याप्त नहीं; अब यह भी अनिवार्य हो गया कि उस बात या विषय का अन्य विषयों के साथ सापेक्ष स्थान और ज्ञान की सम्यक् परियोजना से उसका संबंध भी जानें।

आधुनिकतावाद के अग्रणियों के विचारों पर यंत्रों की कार्यप्रणाली का प्रभुत्व रहा, क्योंकि उनके यश का अधिकांश श्रेय यंत्र को था। व्यवस्था और दक्षता के विषय में हमारे वर्तमान मानक इसी यंत्रवाद से प्रभावित हैं। कोई बड़ी कर्मशाला हो, उसमें अनेकों प्रचंड यंत्र, हजारों श्रमिक—सब मिलकर मानो एक विशाल यंत्र है। यंत्र की उपासना से मनुष्य भी यंत्र बन गया। हमारे परस्पर संबंध यंत्रवत् औपचारिक, भावनाशून्य, स्वार्थ और काम-भर के होने लगे। कहा जाता है कि भारतीय मनुष्य अपने सेवकों को यंत्र न समझ कर अपने निकटस्थ अनुचर, परिवार के ही अंग मानता रहा है। जबकि पाश्चात्य मनुष्य सेवकों को यंत्र समझता है, दोनों के परस्पर संबंधों में भावना या स्नेह का कोई स्थान नहीं। आज भी पौर्वात्य और पाश्चात्य दृष्टिकोण में यह अंतर स्पष्ट है। पौर्वात्य मनुष्य आज भी सारतः कृषक है। बुआई, निराई, कटाई, खलिहान, गौशाला आदि में व्यस्त है, उसी में मस्त है। उसका संसार सीधा-सादा है। इसके विपरीत पाश्चात्य मनुष्य के मन में और व्यवहार में यांत्रिक शुद्धता, क्षमता और कुशलता का आग्रह रहता है और कम-से-कम व्यय में अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करने की चिंता रहती है।

जिस समाज में व्यवस्था और संश्लेषण करने का सक्षम उच्चतम ज्ञान हो, वहां प्रांतीयता महान पाप है; और यहां नए और पुराने जगत में अंतर दिखता है। पुराने संसार में सामंत लोगों की इच्छाएं सर्वश्रेष्ठ समझी जाती थीं और अशिष्ट व्यवहार पर प्राणदंड भी दिया जाता था। यद्यपि आज की बौद्धिक एवं सामाजिक असफलता का कारण प्रांतीयता है, फिर भी वसुधैव कुटुम्बकम् की स्थिति लाना इतना सरल नहीं है। वस्तुतः जिस वृक्ष की जड़ें अपनी

निज-भूमि में भली-भांति जमी हों, उसी वृक्ष में से पर्ण, पुष्प और फलों की प्राप्ति होगी। इसी प्रकार जो अंतःकरण अपने निकटतम पर्यावरण से सुसंवादी हो, जो चरित्र अपने नागरिक कर्तव्यों के प्रति पर्याप्त सजग हो—वही विश्वव्यापी व्यवस्था में अपना दायित्व निभा सकता है। जो सच्चा राष्ट्रीय हो वही विश्व राष्ट्रीयत्व (Cosmo-nationality) का घटक हो सकता है।

समस्त संसार-भर में आज सुसंस्कृत मानव स्व-समाज की सेवा का महत्त्व समझने लगा है। जब कोई भारत, एशिया या अफ्रीका निवासी यूरोप में जाकर वहां की रीति, प्रथा और शिष्टाचारों की दीक्षा लेकर स्वदेश लौटने पर अपने ही बंधुओं की हंसी करता है, अपने को श्रेष्ठ समझ कर उन पर टीका-टिप्पणी करने लगता है, तब वह अपने देशबांधवों के तिरस्कार का पात्र बनता है। उससे कोई मिलना नहीं चाहेगा, क्योंकि जिन लोगों के सहवास में रह जाने का उसे बड़ा अभिमान है, उसके विचार-विश्व में उनका कोई योगदान नहीं है। क्या है उसके पास जिससे लोग उसकी ओर आकृष्ट हों? उसकी प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक गतिविधि उसके मस्तक पर 'दंभी' का ठप्पा लगा देती है।

इसके साथ-साथ यह भी ध्यान रहे कि अपनी पारंपरिक बातों पर डटे रहना भले ही पौरुष और आत्म-सम्मान की बात हो, कभी-कभी अपनी त्रुटिपूर्ण प्रथाएं और दोषपूर्ण आचार-विचारों का दुराग्रह रखना अयोग्य और नाशकारी भी होता है। दूसरों के अनुकरण का भद्दापन दिखाने की अपेक्षा संकीर्ण होना अच्छा है, क्योंकि भद्देपन के प्रति हमारी घृणा चिरकालिक है। तथापि उपर्युक्त दोनों दृष्टियां सदोष हैं और वे प्रभावी उपलब्धि के हेतु व्यर्थ हैं। संसार से अब हम अलिप्त नहीं रह सकते। अब हमें अपना समग्र अतीत संसार के जीवन का एक अंग बनाना होगा। इसी को राष्ट्रीय ध्येयों का साक्षात्कार कहते हैं। अपने ध्येय के साक्षात्कार के पीछे समग्र संसार का विचार हो, संसार को प्रदान करने की हमारी क्षमता बढ़े—इसके लिए आवश्यक है कि हम रूढ़ियों के बंधनों से बाहर निकल आएं। परंतु रूढ़ियों का यह त्याग यदि हम किसी क्षुद्र व स्वार्थी भावना से करेंगे तो संसार-भर के भद्र स्त्री-पुरुष हमें अपने समागम में प्रवेश नहीं देंगे।

समग्र जगत का एक राष्ट्र होना, आचार-विचारों में विश्व-राष्ट्रीयता, विश्वबंधुत्व की सिद्धि प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सरल नहीं है। अपने राष्ट्र से एकनिष्ठ रहकर, अपनी राष्ट्रीयता की अनुभूति पूर्णता से प्राप्त करके ही कोई जागतिक एकता की प्राप्ति कर सकता है। अपनी राष्ट्रीय कल्पना, विचार और ध्येयों को जागतिक परिप्रेक्ष्य में देखना ही विश्व-राष्ट्रीयता है। संस्कृति माने मात्र जानकारी नहीं, संस्कृति माने सहानुभूति, समवेदना। आधुनिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग सर्वतोपरि मानवता की भावना का विकास ही हो सकता है। यह विकास केवल भौगोलिक जानकारी से नहीं होगा। आज समग्र संसार मानो एक हो गया है, भिन्न-भिन्न राष्ट्र परस्पर संयवित (Associate) हो रहे हैं। इस एकीकरण ने मानव के मन को विशाल बना दिया है। प्राप्त अनुभवों को आत्मसात् कर, उन्हें ठीक से समायोजित कर जब उनमें से एक सुस्वर संगीत निर्माण होता है, तभी उन समन्वित अनुभवों को व्यक्ति का शील व चरित्र—यह अभिधान प्राप्त होता है। अर्थात् व्यक्ति का समग्र इतिहास उसकी मुख-मुद्रा में अंकित होता है। व्यक्ति का चरित्र उसके आचार-विचारों में प्रतिबिंबित होता है। जो व्यक्ति के विषय में है, वही राष्ट्र के विषय में मानना चाहिए। राष्ट्र, संसार के बाजार में विविध अनुभव प्राप्त कर, उन्हें आत्मसात् कर, सुंदर संस्कृति निर्माण कर सकता है। आस-पास की सृष्टि से प्राप्त अनुभवों में से विचार, आशाएं और लक्ष्य निर्माण होते हैं। किसी राष्ट्र की आकांक्षा, उसके स्वप्नों को देखने से राष्ट्र की पैतृक संपदा अथवा पूर्वजों की धरोहर का पता लगता है। इस प्रकार आधुनिक चेतना अथवा राष्ट्र जागरण के लिए इतिहास उतना ही आवश्यक है जितना भूगोल। सत्य—नितांत और गतिशील सत्य—के परिमापन के इतिहास और भूगोल—ये दोनों अनिवार्य और अपरिहार्य आयाम (Dimensions) हैं।

हमारी अभिवृत्ति (Attitude) बदलने से सब धारणाएं भी बदल जाती हैं। हम अपने ज्ञान का पुनः सर्वेक्षण कर विविध बातों का केवल स्वरूप ही नहीं, परस्पर संबंध भी जानने का प्रयास करते हैं। गाय माने गाय, और कुत्ता माने कुत्ता—इतना-भर जानना पर्याप्त नहीं, उनके अंदर की मौलिक प्रजाति (Species) की एकता और उनके परस्पर संबंध और एक का दूसरे में विकसन कैसे हुआ, यह भी जानना होगा। धरती का उत्खनन कर, पाषाण-प्रस्तरों का विखंडन कर हमें भिन्न-भिन्न जीवाश्म (Fossils) मिलते हैं, जिनके अध्ययन से हमें अश्वखुर और गोखुर में भेद, सरीसर्प (Reptile) और मत्स्य का परस्पर और दोनों का पक्षियों से अंतर समझ में आता है।

हम साहित्य और कला के अध्ययन का विचार करें। इनके विषय में भी नूतन विकासवाद की दृष्टि से हम तुलनात्मक परिनिरीक्षा करें। बगदाद के अभिलेखों का यदि हम अनुसंधान करें तो हमें स्पेन के मूर लोगों के भी अभिलेख देखने होंगे। फ्रांस की वीरता के क्रमिक विकास को समझना हो तो जर्मनी के अरण्यों को, जहां उसका संगोपन हुआ, देखना होगा। हमारी एकता की कल्पना जीवजात, विकासवादी हुई है और समग्र संसार की समन्वित गतिविधि और संघर्ष का सम्यक् चित्र चित्रित करना नितांत आवश्यक हो गया है।

ज्ञान की कल्पना इतनी व्यापक होने पर भी अत्यंत विद्वान पुरुष भी अपने संकीर्ण ज्ञान में ही संतुष्ट रहते हैं, अपने अज्ञान में ही सीमित रहते हैं। आधुनिक संस्कृति के इतिहास में चीन विषयक पृष्ठ नितांत कोरा है; चीन की संस्कृति के विषय में जागतिक जानकारी शून्य है (स्मरण रहे, यह लेख 1915 के लगभग लिखा गया है)। भारत की भी ऐसी ही उपेक्षा की जाती रही है। संसार में भारतीय संस्कृति के विषय में जो भ्रमपूर्ण धारणाएं हैं, उन्हें देखकर दया और हंसी आती है। मुसलिम जगत के विषय में भी कितना अज्ञान है! 'यूरोप की ग्रीक और रोमन संस्कृति ही विश्व संस्कृति है'—इस प्रकार आज पाश्चात्य समझते हैं, लिखते हैं। इससे बड़ा अज्ञान और अहंकार क्या होगा? ध्यान में रहे, संस्कृति के विश्व में राजनीतिक भ्रष्टाचार को कोई स्थान नहीं। ज्ञान की जिज्ञासा और सांस्कृतिक विकास के क्षेत्र में गोरे, काले, पीले के भेद को कोई स्थान नहीं। फिर आधुनिक विचार-दर्शन में पौर्वात्य, भारतीय निर्वचन (Interpretation) के विषय में यह उपेक्षा, यह अक्षम्य, राजनीतिक मौन क्यों? पौर्वात्य राष्ट्र आज पाश्चिमात्यों के जुए के नीचे, राजनीतिक एवं आर्थिक दासता में, पिसे जा रहे हैं। पौर्वात्यों के विषय में, मानो उन्होंने जागतिक संस्कृति में कोई अंशदान ही न किया हो, इस आशय का जो मौन धारण किया जाता है उसके मूल में क्या राजनीतिक परिस्थिति और इन राष्ट्रों की दुर्बलता है?

भारत को सांस्कृतिक क्षेत्र में स्थान क्यों नहीं, इसका कारण तो सहजगम्य है। इस संसार में दूसरों की भूमि जीतकर उसे अपने अनतिक्राम्य (Inalienable) अंश के रूप में अपनी भूमि में समाविष्ट करने की आकांक्षा से भारत कभी गया ही नहीं। आज के युग में भी विनय एवं नम्रतापूर्वक जो भी नवीन मिले, उसे वह संतोष के साथ ग्रहण कर रहा है। इन नवीन बातों के नाविन्य और वैचित्र्य के कारण भौचक्का हुआ राष्ट्र गत दो पीढ़ियों से निद्राचारी मनुष्य के समान बना हुआ है। उसमें पौरुष, परिस्थिति के प्रति प्रतिकार क्षमता, इतना ही नहीं, तो सामान्य बुद्धि का भी अभाव परिलक्षित होता है।

परंतु, आज आक्रामक नीति के सहेतुक अवलंबन में हम उपर्युक्त दोषों को छोड़कर खड़े हुए हैं। हम समझ चुके हैं कि जीवन एक संग्राम है। हमने निश्चय कर लिया है और इस बात के लिए हम कटिबद्ध हैं कि विरोधी शक्तियों से होने वाले इस मल्लयुद्ध में हम निःसंदेह अपने प्रतिस्पर्धी को परास्त करेंगे। अब हम जागतिक संस्कृति से निरंतर कुछ-न-कुछ ग्रहण करने वाले मात्र भिखारी बनकर उसमें अपना अमूल्य अंशदान करेंगे। इसके आगे से हमारा सांस्कृतिक सहयोग निश्चेष्ट नहीं, अपितु सचेष्ट होगा। अन्य राष्ट्रों के आक्रमणों को सहन करते हुए, अथवा मात्र प्रतिकार करते हुए हम चुप नहीं बैठेंगे। हमें दूसरों की आज्ञाओं की आवश्यकता नहीं, दूसरों को हम अपनी बातों में दखल नहीं देने देंगे। हमारे भाग्य के हम नियंता, हम विधाता होंगे। समग्र भारतीयों का भारतीयकरण हो, नसों-नसों में राष्ट्रीयता का रक्त प्रवाहित हो, राष्ट्रीय चिंतन अनुशासित हो। अपने संचलन की दिशा हम निर्धारित करें, हमारे लिए कोई और निर्देश दे—ऐसी स्थिति न हो। हम अपने कार्यक्रम स्वयं अपनी प्रज्ञा से निर्धारित करेंगे। हम नीतियों का पालन नहीं, स्वयं निर्धारण करेंगे। दस रुपट्टी की नौकरी के लिए तैयार करने वाली प्रक्रिया को 'शिक्षा' कहने को हम कदापि तैयार नहीं। हम इन सबका यथार्थ मूल्य पहचान कर उन्हें यथास्थान रखेंगे। देवता को पूजाघर में और जूतों को बाहर ही रखेंगे। हमारी प्रज्ञा अब स्वतंत्र हुई है। फिर अब हमारा कर्तव्य क्या है, हमारे लिए निर्धारित कार्य कौन-सा है?

हमें अपने प्राचीन श्रेष्ठ ज्ञान को आधुनिक स्वरूप में, अर्वाचीन मनुष्य को बोधगम्य भाषा में प्रतिपादित करना होगा। हमारी प्राचीन शक्ति को नूतन परिधान पहनाना होगा। नया स्वरूप व्यर्थ है, यदि आंतरिक शक्ति पुरानी न हो; वह मात्र उपहास होगा। इसी प्रकार सामर्थ्य पुराना हो, पर यदि उसकी अभिव्यक्ति नवयुगानुरूप न हो तो वह भी मूर्खता होगी। आत्मा वही, राष्ट्र की आत्मा कभी बदलती नहीं; आत्मा बदलने का प्रयास करेंगे तो उपहास होगा, राष्ट्र का विनाश होगा। आत्मा को नए वस्त्र देंगे, नई देह देंगे। आध्यात्मिक, आधिभौतिक कोई भी उपक्रम हो, हम सबको हाथ में लेंगे और विजय संपादन करेंगे।

विशाल कार्यक्षेत्र पड़ा है; आदर्शों की कमी नहीं; कार्य की न्यूनता नहीं, कार्यकर्ताओं की कमी है। स्वयं-सेवकों की कमी है, एक-एक कार्य लेकर उसके लिए जीवन समर्पित करने वाले जीवनव्रतियों की कमी है। जीवन की, कर्तव्य की, मोक्ष की नवीन कल्पना; नागरिकता, संगठन, सहकारिता की नवीन कल्पना; बंधुप्रेम, मित्रप्रेम, राष्ट्रप्रेम, उन्हें कार्यरूप में परिणत करने की नवीन कल्पना। इन नवनवीन कल्पनाओं को साकार करने के लिए हमें 'ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा' ऐसी आग और स्फूर्ति के ज्वलंत पुतले बनकर, सभी क्षेत्रों में प्रविष्ट होकर उन्हें हस्तगत करना है।

भारत का यथातथ्य और जीवंत इतिहास हमें तैयार करना होगा। वर्तमान में हिंदुस्तान का इतिहास, जो अंग्रेजी में लिखा जाता है, प्रायः प्लासी की लड़ाई और वॉरेन हेस्टिंग्स से प्रारंभ होता है। इसके पूर्व का कुछ सहस्र वर्षों का इतिहास दस-बीस पृष्ठों में देकर ये लोग छुट्टी पा लेते हैं। उनकी दृष्टि में यह पूर्वेतिहास बड़ी अड़चन है; उसे छोड़ नहीं सकते इसलिए प्रारंभिक प्रस्तावना के रूप में कुछ थोड़ा-सा दे देते हैं। इस विशाल राष्ट्र का इस प्रकार इतिहास लिखना नितांत उपहास है। इन्हें रद्दी समझकर फेंक देना होगा। भारत का इतिहास अभी तक लिखा ही नहीं गया, उसे प्रथम बार लिखना है। भारत के इतिहास को भावनाप्रद, प्रेरणाप्रद बनाना होगा। भारत का इतिहास माने भारतीयों का विजयशृंग, तूर्यनाद होना चाहिए, उसमें इसके उपदेशों का दर्शन होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक होगा कि इस इतिहास को हमारे तीर्थस्थानों और कीर्तिस्थानों से संबद्ध करना होगा। प्राचीनकाल में जिन वीरों ने धारा-तीर्थों पर अपने देह रखे, हमारे जिन पूर्वजों ने विशाल प्राचीरों से युक्त नगर बसाए, जिन ऋषियों एवं शास्त्रज्ञों ने मूल्यवान विचार और ग्रंथ भावी पीढ़ी के लिए धरोहर के रूप में छोड़े, ऐसे हमारे पूर्वज स्वर्ग में हम लोगों को देखकर यदि रोते न हों तो हंसते तो अवश्य होंगे। कम-से-कम तीन-चार सहस्र वर्षों के स्तृत (Strate) उत्खनित कर भारत का इतिहास लिखना होगा। कल-परसों के ये मुंबई, मद्रास जैसे नगरों को देखकर काम नहीं चलेगा। कभी सागर के तीर पर, तो कभी नदियों के पाट में, कभी नैमिष, तो कभी दंडक अरण्य में, कभी हिमालय की तलहटी में तो कभी विंध्याद्रि की कोख में—भारत का इतिहास घटित हुआ है। भिन्न-भिन्न युग में भिन्न-भिन्न कर्मक्षेत्र और शक्ति-केंद्र रहे। अयोध्या और हस्तिनापुर, द्वारिका और मथुरा, इंद्रप्रस्थ और पाटलीपुत्र, काशी और गया, अवंतिका और माया, कांचीवरम् और विजयानगरम्, प्रतिष्ठान और अमरावती, भिन्न-भिन्न युगों में ये पुर-पत्तन चमक उठे। वह काल, वह सृष्टि कहां है? भूतकाल का संपूर्ण, सांगोपांग, विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए अखंड प्रयास करना होगा। भूतकाल के इस उत्खनन के लिए हमें ही अपने हाथ में गैंती, फावड़ा लेना चाहिए, क्योंकि प्राचीन अवशेषों के अभिप्राय, उनके अर्थ समझने को आवश्यक सहानुभूति, विचार और भाषा हमारे पास है, विदेशियों के पास नहीं। भारत की संपूर्ण आशा इन तथ्यों के गहरे अन्वेषण, दृढ़ अनुसंधान में निहित है। सत्य के प्रति भारत कभी उदासीन न रहा; सत्य-पूजा के लिए भारत विख्यात है। 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तेन त्वया अपावृत्य सत्यधर्माय दृष्टये।।' यह श्रेष्ठ ऋषि की महान प्रार्थना थी। उन्हीं के हम वंशज हैं।

भारत की विभिन्न प्रांतीय भाषाओं में भी श्रेष्ठ, महनीय साहित्य निर्माण करना होगा। इस साहित्य में भूतकाल का सिंहनाद, वर्तमान की अभिव्यक्ति और भविष्य का मार्गदर्शन होना चाहिए। यूरोप में संपादित ज्ञान-विज्ञान, कल्पना और विचार को हमें मातृभाषा के माध्यम से विशद और सुबोध बनाकर घर-घर पहुंचाना होगा। परकीय संस्थाओं की अंधी नकल हम कर नहीं सकते। उसी प्रकार उनके विचारों के प्रति उदासीन रहने से भी काम नहीं चलेगा। भारत के अतीत का इतिहास ऐसी बोधगम्य भाषा में लिखना होगा, जिसे पढ़कर लोगों के हृदय में आशा, स्फूर्ति और तेज उत्पन्न होना चाहिए। जिस प्रकार राष्ट्र की सामूहिक प्रार्थना, वंदेमातरम् गीत सबके मुखों में, वैसे ही राष्ट्रीय साहित्य भी सबके हृदय में हो। मातृभाषा में प्रकाशित एवं गुण-विशिष्ट साहित्य स्त्री-शिक्षा के प्रश्न को परिणामकारक ढंग से हल करेगा।

कला का भी पुनरुज्जीवन करना होगा। कला की भाषा लोगों के हृदय तक सहज पहुंचती है। कोई दिव्य गीत, कोई उज्ज्वल चित्र समग्र राष्ट्र को प्रेरणा, जीवन और विचार देता है। एक अकेले वंदेमातरम् गीत ने जितनी प्रेरणा दी, जितनी राष्ट्रीयता की जागृति की—उतनी सैकड़ों लेखों व भाषणों से न हुई होगी। सन् सत्तावन के स्वाधीनता संग्राम में चपातियों ने ग्राम-ग्राम में जो जागृति की, उसे हम जानते हैं। भारतीय कला का पुनरुज्जीवन अवश्य होगा, क्योंकि उस कला के लिए एक नवीन, श्रेष्ठ, अनंत विषय

शेष पृष्ठ 43 पर

तस्मै देवाय सर्वात्मने नमः

प्रो. कल्याणमल लोढ़ा

देखता हूं चौराहे पर एक व्यक्ति खड़ा है—वह यह नहीं जानता कि उसे अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए किस दिशा की ओर जाना है, कभी उत्तर की ओर जाकर लौटता है, तो कभी इधर कभी उधर। क्यों ऐसा है? वह अन्य राहगीर से समाधान चाहता है, पर प्रायः सभी हाथ हिलाकर अजंता के भित्ति चित्र की भांति अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं। उसका कैसा असमंजस है!

इस दिशाशून्य, दिग्भ्रमित व्यक्ति ने मुझे विचार-मग्न कर दिया। वह क्या, आज पूरा मानव-समाज दिग्भ्रमित और दिशाशून्य हो रहा है—भूल गया अपना लक्ष्य, भूल गया अपना गंतव्य। इस संकट, विकल्प और संशय का, अंतर्मन के विषाद का कौन समाधान करे? कौन पथ संधान करे? चिंतक बताते हैं कि इस भौतिक समृद्धि के भीतर छिपी है घोर दरिद्रता, इस उन्नति में भी अवनति और आगे बढ़ने की चेष्टा में प्रत्यावर्तन। क्यों ऐसा है? क्या ये वैज्ञानिक आविष्कार, ये तकनीकी उपकरण, नित-नूतन अनुसंधान— सभी वृथा हैं? दिनकर याद आ गए; 'जो मंगल उपकरण कहाते वे मनुजों के पाप हुए क्यों? विस्मय है विज्ञान बिचारे के वर ही अभिशाप हुए क्यों?' कैसा है यह वर्तमान अभिशप्त मानव-जीवन?

आज विलास की उन्मत्तता और अंतहीन भौतिक एषणाओं की महत्त्वाकांक्षाओं से हम जर्जर हो रहे हैं। भारतीय ऋषियों ने पृथ्वी की पूजा को अत्यधिक महत्त्व दिया। वैदिक श्री और पृथ्वी सूक्तों से अद्यावधि उसके सात्त्विक और आध्यात्मिक स्वरूप की वंदना की— 'आदित्य वर्ण तपसो-अधिजातो वनस्पतिस्तव वृक्षोथ विल्वः। तस्य फलानि तपसानुदंतु मायान्तरा याश्च बाहया अलक्ष्मीः।' तू सूर्य के समान तेजस्वी है, तेरे तपोबल से ही विल्व का निर्माण हुआ है। तेरी तपश्चर्या और शक्ति का सुफल हमारे अंतःकरण का अज्ञान, दैन्य और दारिद्र्य दूर करता है।

कुछ समय पूर्व पढ़ा था कि जिस तीव्र गति से पृथ्वी की जनसंख्या बढ़ रही है उसके कारण इस शताब्दी के अंत तक वह सात खरब हो जाएगी और ईसवी 2030 तक पंद्रह खरब। सभी भयभीत हैं कि इस गति से एक समय ऐसा आएगा जब मनुष्य-जाति का द्रव्यभार पृथ्वी के द्रव्यभार से अधिक हो जाएगा और फिर पृथ्वी कहां रहेगी? वह इस बोझ को सहन नहीं कर सकेगी। तब? इस बढ़ती हुई जनसंख्या का 40 फीसदी तो दरिद्र जीवनयापन से भी कम है।

इसी स्थल पर याद आ गया अर्थशास्त्री मालथुस। उसने यह प्रतिपादित किया था कि यदि जनसंख्या अनावश्यक व अनियंत्रित ढंग से बढ़ती रही तो प्रकृति अपनी ध्वंस लीला से उसका संहार करेगी—अर्थात् भारतीय मनीषा के आधार पर रुद्र का तांडव होगा, भयंकर। आज यही तो हो रहा है। कहते हैं सूडान में पिछले वर्षों में दस लाख व्यक्ति युद्ध अथवा बुभुक्षा से मर गए। अफ्रीका में हर दिन लगभग पंद्रह हजार बालक कुपोषण से

व्याधिग्रस्त हो मर जाते हैं और विश्व में चालीस हजार। गत दशक में अफ्रीका में बीस लाख इसी प्रकार मर गए। के. स्टाइलो ने अपने सर्वेक्षण से बताया कि प्रत्येक वर्ष चालीस-पचास लाख शिशु यक्ष्मा रोग से पीड़ित होते हैं। युद्ध की विभीषिका, कुपोषण, भूख, हिंसा, प्रतिहिंसा—क्या यही हमारी उपलब्धि रही? एक अन्य सर्वेक्षण से पता चलता है कि हमारे देश में प्रति मिनट आठ और विश्व में सौ के लगभग आत्महत्याएं होती हैं। कलकत्ता महानगर में ही हर दूसरे दिन एक आत्महत्या हो जाती है। ये सभी आत्महंता व्यक्ति अपनी जिजीविषा क्यों खो बैठे? अज्ञेय की बात 'कहां है वह लक्ष्य श्रम का, विजय जीवन की..... हरहराते ज्वार-सा बढ़ सदा आया एक हाहाकार।' क्या आज यही हमारा प्राप्य है? क्या सचमुच प्रकृति अपनी ध्वंस-शक्ति बता रही है? ये भूकंप, ये ज्वालामुखी, ये दावानल, झंझावात, अतिवृष्टि-अनावृष्टि, सब उसका ही प्रकोप है। एक दिन देव सभ्यता भी इसी प्रकार मद, वासना-विलास में डूब गई थी। उसके दंभ के कारण प्रलय हुआ और 'वे सब डूबे, डूबा उनका विभव बन गया पारावार'। प्रकृति दुर्जेय रही।

मानव-जीवन के इस उन्मत्त हास-विलास की स्पर्धा में धरित्री अपना प्रकृत सौंदर्य, अपनी शक्ति और अस्तित्व खो रही है। कहते हैं कि जापान की जेब में संसार के आधे जंगल हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार 1981-1990 के दशक में पंद्रह करोड़ हेक्टेयर से भी अधिक वन नष्ट हो गए थे और नूतन वृक्षारोपण इसके अनुपात में नहीं के बराबर था। लातिन अमेरिका में ही 74 लाख हेक्टेयर वन प्रतिवर्ष नष्ट हो रहे हैं। जापान प्रतिवर्ष 50 फीसदी लकड़ी खरीद रहा है। हमारे देश में ही हिमालय, अरावली, विंध्याचल, दक्षिण-पूर्वी-पश्चिमी सभी क्षेत्रों में वन संपदा नष्ट हो रही है। इसका दुष्प्रभाव है पर्यावरण की विनष्टि और प्राकृतिक संतुलन व रसमयता का ह्रास। हमारे देश की एक-तिहाई वन संपदा नष्ट हो गई है। 'चिपको' आंदोलन कहां और कितना कर पाएगा? अमेरिका में कैप्टन हिल ने एक वृक्ष को बचाने के लिए आंदोलन खड़ा कर दिया था। हममें वह जागरूकता क्यों नहीं है? इसके फलस्वरूप जलवायु में भी परिवर्तन हो रहा है। वर्षा में भी अनपेक्षित, घातक परिवर्तन!! समुद्र संपदा भी नष्ट हो रही है।

बंबई के क्राफोर्ड बाजार में हर पशु, पक्षी, जीव-जंतु बिक रहे हैं। बाघों की संख्या किसी समय चालीस हजार थी, अब केवल चार हजार से कुछ अधिक है। चीते, गेंडे, लोमड़ी, मेंढक, सांभर-लोमड़ी—कहां तक गिनाऊं सभी शनैः-शनैः सहस्रों की संख्या में समाप्त हो रहे हैं। 'डाउन टू अर्थ' पत्रिका के मुताबिक गेंडे के एक किलो सींग की कीमत सिंगापुर में दस लाख और पश्चिम एशिया में तीस लाख रुपये है। दुख होता है यह जानकर कि असम में विष छिड़क कर हाथियों को भी मारा जा रहा है। विदेशों में व्याप्त बर्बरता का लेखा-जोखा कौन करे? ताइवान में बाघ के प्रजनन अंग से सूप तैयार होता है, जो अत्यंक लोकप्रिय है और एक गिलास के इस सूप का मूल्य दस हजार रुपए है। अब नारा है कि बाघ की रक्षा के लिए ताइवान का विरोध करो (गुजरात अखबार, 9-3-94) और दहलाने वाली घटना है—जब बीजिंग में फरवरी, 1993 से हाओ काई मनुष्य का मांस बेचता था। कहां अंत है इस भोगवृत्ति का! लगता है हम दानव संस्कृति की ओर लौट रहे हैं। क्या इन पाशविक वृत्तियों का कहीं अंत नहीं?

भारतीय संस्कृति का आधार है—'सर्वभूत हिते रताः' और 'सर्वभूत में भगवत् दर्शन'। हमने यही माना—'माता पृथिवी महीयम्', हमारी प्रार्थना है—'खं वायुमग्नि सलिलं महींच ज्योतिर्षि सत्वनि दिशो द्रुमादीन् सरितः समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्यः।' इस पंचभूतात्मक सृष्टि—समूची पृथ्वी के सारे ज्योतिर्मय पदार्थ—सभी दिशाओं में, सभी प्राणियों में 'यत् किंच भूतं'—जो कुछ भी है, वह तत् समुदाय श्रीहरि की विभूति का दिव्य अंश है और इसी से वनस्पति, वन, समुद्र, सरिता सभी को देखकर—'चित्ते भक्तिः समुदेति' चित्त में प्रमोद व भक्ति भाव होता है। इसी से सब दुष्कर्म हमें संत्रस्त करते हैं, करेंगे ही, हमारी परंपरा ही भिन्न है। इसके विपरीत यह सर्वव्यापी विकराल प्रदूषण। प्रसिद्ध वैज्ञानिक माइकेल मेकार्थी कहता है कि वायुमंडल में ओजोन गैस की कमी से कैंसर का रोग तीव्र गति से फैल रहा है। एड्स की संहार-प्रक्रिया से मानव-अस्तित्व का संकट गहराया है। हृदय-रोग तो सामान्य घटना हो गई है। मानसिक विक्षिप्तता के कारण अमेरिका जैसे विकसित देश में आगामी दशकों में विद्यालयों से अधिक आवश्यकता मानसिक रोगों के चिकित्सालयों की होगी। आने वाले दशकों में बहरापन, स्मृति-ह्रास और अंधापन बहुत अधिक होगा। क्या यही मानव-जाति की नियति है? विश्व स्वास्थ्य संघ ने कुल 200 रसायन स्वीकार किए हैं। पर, आज प्रचलित हैं कई सहस्र। मनुष्य में सात्विक बौद्धिकता का स्थान तामसिक विकृत बुद्धि ने लिया है और हर पंद्रह वर्षों में यह दुगुनी हो रही है, इस विकृत बौद्धिकता ने हमारी रागात्मक शक्ति

नष्ट कर दी है। हम संवेदनहीन हो गए हैं।

सुना जाता है कि प्रत्येक दिन अस्त्र-शस्त्र बनाने में जितना खर्च होता है, उससे संयुक्त राष्ट्र का एक वर्ष का खर्च चल सकता है। इन शस्त्रास्त्रों की स्पर्धा का दुष्परिणाम आंखों के सामने है। जिस व्यक्ति ने जापान पर प्रथम अणुबम गिराया था, वह मानसिक तनाव से विक्षिप्त होकर यही प्रलाप करता रहा, 'मैं हर स्थान में बालकों को देख रहा हूं—क्रंदन सुन रहा हूं—चीत्कार व शवों का ढेर।' विश्व में न जाने कितने महाभारत हुए, हो रहे हैं। हम कब सीख-समझ पाए महापुरुषों की दिव्यवाणी को—चाहे वह गौतम की हो, महावीर की, गांधी, ईसा, नानक, रामकृष्ण—किसी की। यह युद्धोन्माद क्या हमारी जैविक प्रक्रिया है? यह उन्माद एवं हिंसक वृत्ति समाज के साथ-साथ व्यक्ति के रक्त में विष की तरह व्याप्त है। उद्दंड और ऊबे हुए किशोर-किशोरियों के विध्वंसात्मक कार्यों ने विश्वव्यापी समस्या का रूप ले लिया है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। राबर्ट ई. स्मिथ बताता है कि विद्वेष और अधिकार लिप्सा, यौन दुराचार, समाज, परिवेश से घृणा एवं मिथ्या घृणास्पद प्रतिष्ठा का व्यामोह इसके हेतु हैं। अर्थात् 'बदनाम होंगे तो क्या नाम नहीं होगा?' अमेरिका में अब दस वर्ष के बालक अपनी वसीयत करने लगे हैं और हमारे यहां पर पुत्र के अनुत्तीर्ण होने पर माता-पिता आत्महत्या!! कैसी दुर्गति है। कहां है वह शिक्षा पद्धति जो नैतिकता, प्रेम, सौहार्द, करुणा और सौमनस्य से नैतिक आस्था और विश्वास से जीवन को परिपूर्ण करके शक्ति, साहस और उत्साह भरती है?

आज भविष्य के इन युवकों में वह कल्याण-भावना क्यों दिखाई नहीं पड़ती? एडिसन ने कहा था कि संगमरमर के एक टुकड़े में जिस प्रकार कलाकार मूर्ति गढ़ देता है, उसी प्रकार शिक्षा पद्धति भी राष्ट्र का निर्माण करती है। आज विद्यालयों से युवक क्यों रूखे-सूखे निकल रहे हैं—निष्प्रभ, हताश और हिंसक बन कर। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनमें क्षमता और प्रतिभा का अभाव है, पर सारी व्यवस्था ही असंतुलित और असंयमित है। ईश्वरचंद्र विद्यासागर का 'गोपाल' और रूसो की 'इमीली' का निर्माण हम क्यों नहीं कर पाते? कवि पंत ने लिखा था—

भू का उपचेतन आवाहन
उत्कंठित करता रह-रह मन
कौन साथ, किन श्रवणों के हित
करती क्या गोपन संभाषण!

इस 'उपचेतन आवाहन' और 'गोपन संभाषण' के भीतर छिपा है धरती का अमित और अविरल सौंदर्य और उसका अशेष शक्ति-भंडार। आज विलास की उन्मत्तता और अंतहीन भौतिक एषणाओं की महत्त्वाकांक्षाओं से हम जर्जर हो रहे हैं। भारतीय ऋषियों ने पृथ्वी की पूजा को अत्यधिक महत्त्व दिया। वैदिक श्री और पृथ्वी सूक्तों से अद्यावधि उसके सात्त्विक और आध्यात्मिक स्वरूप की वंदना की—'आदित्य वर्ण तपसो-अधिजातो वनस्पतिस्तव वृक्षोथ विल्वः। तस्य फलानि तपसानुदंतु मायान्तरा याश्च बाहया अलक्ष्मीः।' तू सूर्य के समान तेजस्वी है, तेरे तपोबल से ही विल्व का निर्माण हुआ है। तेरी तपश्चर्या और शक्ति का सुफल हमारे अंतःकरण का अज्ञान, दैन्य और दारिद्र्य दूर करता है। तू गंधवती है नवरात्रि की ऋषि गंध से पूर्ण, गंधद्वारा दुराधर्षा नित्यपुष्टा करीषोणीम्। जानता हूं कि तू केवल प्रेम की भूखी है, हमारा भार वहन करती है। हमारे दोषों और पापों को क्षमा कर जननी। तू प्रणम्य है। कवि ने बताया था—

आः धरती कितना देती है। (पंत)

देखता हूं, चौराहे पर खड़ा व्यक्ति किसी के पथ-प्रदर्शन से संभवतः अपने लक्ष्य पर पहुंच गया। इसी भांति एक दिन भारतीय संस्कृति भी अपनी तेजस्विता से वर्तमान दिशाहारा मानव-समाज को मंगल पथ पर अग्रसर करेगी व इसी ओर आज वह अभिमुख भी हो रहा है, होगा, होना पड़ेगा।

तस्मै देवाय सर्वात्मने नमः

❖

किसी भी नास्तिक के बारे में यह जानना चाहिए कि वह किन मूल्यों को शाश्वत मानता है। मनुष्य मात्र या जीव के प्रति उसकी कितनी करुणा है—इन आस्थाओं के बगैर नास्तिक का समाज के लिए कोई उपयोग नहीं है। कुछ लोग भगवान के रूप में उस शक्ति को मानते हैं जिसको विज्ञान द्वारा समझा नहीं जा सकता है। प्रकृति और जीवन, सारी सृष्टि का कोई महान उद्देश्य होगा और यह उद्देश्य अपने में एक चालक शक्ति होगा—जो लोग ईश्वर को इस रूप में देखते हैं, वे पूजा-पाठ नहीं करते या मंदिर नहीं जाते। इस विश्वरूप का ध्यान करने से ही उनका मन उदात्त और संवेदनशील होता है। वैज्ञानिक आइंस्टाइन या दार्शनिक ह्वाइटहेड ईश्वर को एक प्राकृतिक शक्ति के रूप में ही समझ पाते हैं। यह भी नास्तिकता है। धर्म के ईश्वर से यह बिलकुल अलग है।

—किशन पटनायक

जैन पुराणों में संगीत : एक विवेचन

अजीत जैन

भारतीय दर्शन में पुराणों का अपना प्रमुख स्थान है। जैन तथा जैनेतर, पुराणों को सभी श्रद्धा तथा भक्ति की दृष्टि से देखते हैं। जैनेतर जन पुराणों की संख्या अट्ठारह मानते हैं, जबकि जैन लोग इस संख्या में बंधे हुए नहीं हैं। जैनों के पुराण तीर्थंकरों पर रचे गए हैं। तिरेसठ शलाका पुरुषों अर्थात् पदवीधारी महापुरुषों के वर्णन एवं एक सौ उनहत्तर पुण्य पुरुषों के चरित्रों से संबद्ध हैं।

तिरेसठ शलाका पुरुषों में नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, नौ बलभद्र, बारह चक्रवर्ती तथा चौबीस तीर्थंकर सम्मिलित हैं। जैन पुराणों में तिरेसठ शलाका पुरुषों का जीवन चरित्र विस्तार से (इनके पूर्वभव से लेकर) विवेचन किया गया है। एक सौ उनहत्तर पुण्य पुरुषों में तिरेसठ शलाका पुरुष, चौबीस तीर्थंकरों के अड़तालीस माता-पिता, चौबीस कामदेव, चौदह कुलकर तथा ग्यारह रुद्र सम्मिलित हैं। इन सभी का वर्णन जैन पुराणों में पाया जाता है।

जैन पुराणों की संख्या तो काफी है, किंतु विशेष प्रसिद्ध पुराण निम्न हैं—पद्मपुराण, महापुराण, हरिवंश पुराण, शांतिनाथ पुराण, पांडव पुराण, महावीर पुराण आदि।

जैन पुराणों में संगीत के शास्त्रीय सिद्धांतों का उल्लेख पाया जाना यह सिद्ध करता है कि संगीत का शास्त्रीय रूप जैन पुराणों में सुरक्षित रहा है। इन ग्रंथों ने न केवल संगीत के शास्त्रीय पक्ष को सुरक्षित रखा है, अपितु क्रिया में भी संगीत की मौलिक परंपरा को अक्षुण्ण रखा है एवं विकसित किया है। इस संगीत-विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस काल में भी धर्म और संगीत घनिष्ठ रूप से संबंधित थे। जहां एक ओर जैन धार्मिक ग्रंथों ने संगीत के शास्त्रीय पक्ष को सुरक्षित रखा है, वहीं दूसरी ओर संगीत ने भी जैन धर्म की शिक्षाओं के प्रचार और प्रसार में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

पुराणों को महाकाव्य की संज्ञा भी दी जा सकती है। महाकाव्य में पाए जाने वाले सभी प्रसंग प्रायः इनमें मिलते हैं। जैसे नगर वर्णन, उद्यान, उषाकाल, संध्याकाल, सूर्य, चंद्रमा, नदी, सरोवर, पक्षियों के कलरव आदि। साथ ही काव्यगत शृंगारादि नौ रसों, नाना प्रकार के छंदों, अलंकारों, शब्द-शक्तियों आदि के प्रयोग भी पुराणों में हैं। महाकाव्य के सभी गुण होते हुए भी विद्वानों ने इनको महाकाव्य न कहकर 'पुराण' संज्ञा ही दी है।

इन पुराणों में एक सौ उनहत्तर पुण्य पुरुषों का चरित्र चित्रण तो है ही, साथ ही तत्कालीन सभ्यता, संस्कृति एवं कला, सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक दशा, भौगोलिक स्थिति, धर्म-दर्शन, नीति-न्याय इत्यादि विषयों का भी अच्छा विवेचन हुआ है।

इन्हीं विषयों को आधार मानकर विभिन्न पुराणकार जैनाचार्यों ने अपनी लेखनी के बल पर छोटे-बड़े अनेक पुराणों की रचना की है। यद्यपि इन पुराणों की रचना बाद में की गई है, परंतु इनका वर्ण्य विषय तो हजारों वर्षों पुराना ही है।

पुराणों में उल्लेखित संगीत

विवरण के आधार पर हम निम्न निष्कर्षों पर पहुंचते हैं—

जैन पुराणों में संगीत के शास्त्रीय सिद्धांतों, यथा श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, तान, जाति, वर्ण, अलंकार आदि का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। विशेष रूप से हरिवंश पुराण में गंधर्वसेना एवं वसुदेव के वीणावादन प्रसंग में इन सिद्धांतों का विस्तृत उल्लेख आया है। यह विवेचन भरतमुनि के नाट्यशास्त्र नामक प्राचीन ग्रंथ पर आधारित है। यद्यपि यह विवेचन पूर्णतया नाट्यशास्त्राधारित है, परंतु कहीं-कहीं भिन्नता भी दृष्टिगोचर हुई है। विशेष रूप से ग्रामों की श्रुति-स्तर व्यवस्था के विवरण में भिन्नता दिखाई देती है। इस भिन्नता का कोई सांगीतिक आधार प्रतीत नहीं होता, परंतु इससे इन पुराणों में उपलब्ध संगीत विवरण की उपादेयता कम नहीं होती। इन ग्रंथों में जैन पुराणों में संगीत के मूलभूत सिद्धांतों का उल्लेख पाया जाना इस तथ्य की पुष्टि करता है कि ये सिद्धांत न केवल शास्त्र में ही उल्लेखित थे, अपितु क्रिया में भी प्रचार में थे।

जैन पुराणों में श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, जाति आदि संगीत के शास्त्रीय सिद्धांतों का विवेचन उपलब्ध होता है, किंतु 'राग' गायन का उल्लेख नहीं मिलता। संगीत ग्रंथों में 'राग' शब्द का उल्लेख सर्वप्रथम मतंग के वृहद्देशी नामक ग्रंथ में मिलता है। जैन पुराणों में राग शब्द का उल्लेख नहीं पाया जाना यह सिद्ध करता है कि ये पुराण संभवतः मतंग के वृहद्देशी नामक ग्रंथ से पूर्व रचे गए हैं। अधिकांश संगीतशास्त्रियों द्वारा मतंग मुनि का काल छठी से नौवीं शताब्दी के मध्य माना गया है, किंतु सातवीं, आठवीं एवं नौवीं शताब्दी में रचे गए इन जैन पुराणों में 'राग' शब्द का उल्लेख न पाया जाना स्पष्ट संकेत करता है कि मतंग मुनि नौवीं शताब्दी से पूर्व का होता तो जैन पुराणों में भी 'राग' शब्द का उल्लेख अवश्य होता। यह प्रकरण मतंग मुनि के वृहद्देशी से अधिक साम्यता नहीं रखता। यह तथ्य भी यही सिद्ध करता है कि ये पुराण मतंग मुनि के काल से पूर्व रचे गए थे। अतः स्पष्ट है कि पुराणों का यह विवरण मतंग मुनि के काल-निर्धारण पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

महापुराण में उल्लेख है कि भरत चक्रवर्ती संगीत-कलाकारों को बड़े-बड़े पारितोषिक देकर संतुष्ट करते थे। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि पुराणकाल में भी संगीत-कलाकारों को राज्याश्रय प्राप्त था। यह तथ्य संगीत के इतिहास की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

आधुनिक युग में संगीत की अनेक गोष्ठियां तथा सेमीनार आयोजित होते हैं, जिनमें दूर-दूर के संगीत-विद्वान् आकर भाग लेते हैं। हरिवंश पुराण में भी वीणावादन गोष्ठी का उल्लेख प्राप्त हुआ है, जिसमें दूर-दूर के देशों से वीणा बजाने में निपुण विद्वान् आकर भाग लेते थे। अतः उस काल में भी संगीत गोष्ठियां आयोजित होती थीं, ऐसा निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

पुराणों के अनुसार स्त्रियों को भी संगीत शिक्षा दी जाती थी। पद्मपुराण में कैकई एवं पद्मनाभा इस कला में विशेष प्रवीण थी। यह तथ्य इस बात को भी प्रदर्शित करता है कि उस काल में संगीत कला निखरे रूप से प्रतिष्ठित थी। इसीलिए संपन्न परिवारों एवं राजघरानों की कन्याओं को संगीत शिक्षा दी जाती थी।

जैन पुराणों में संगीत के शास्त्रीय सिद्धांतों का उल्लेख पाया जाना यह सिद्ध करता है कि संगीत का शास्त्रीय रूप जैन पुराणों में सुरक्षित रहा है। इन ग्रंथों ने न केवल संगीत के शास्त्रीय पक्ष को सुरक्षित रखा है, अपितु क्रिया में भी संगीत की मौखिक परंपरा को अक्षुण्ण रखा है एवं विकसित किया है। इस संगीत-विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस काल में भी धर्म और संगीत घनिष्ठ रूप से संबंधित थे। जहां एक ओर जैन धार्मिक ग्रंथों ने संगीत के शास्त्रीय पक्ष को सुरक्षित रखा है, वहीं दूसरी ओर संगीत ने भी जैन धर्म की शिक्षाओं के प्रचार और प्रसार में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

जैन पुराणों में संगीत को साधन एवं साध्य, दोनों ही रूपों में अपनाया गया है। साध्य रूप में हमें गायन, वादन एवं नृत्य कला की उत्कृष्टता के दर्शन होते हैं। वहीं संगीत को विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति हेतु साधन रूप में भी अपनाया गया है। उदाहरणार्थ महापुराण में उल्लेख आया है कि माता मरुदेवी की गर्भावस्था के समय अनेक देवियां गायन, वादन एवं नृत्य द्वारा माता का मनोरंजन करती थीं। माता के प्रसन्न रहने से गर्भस्थ शिशु पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ता था। इसी उद्देश्य की पूर्ति का साधन संगीत को मानकर माता को मधुर संगीतमय वातावरण में रखा जाता था। जिससे वह सभी प्रकार के दुख एवं चिंताओं से मुक्त रहे एवं शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ रहे। वर्तमान समय में संगीत द्वारा शारीरिक एवं मानसिक रोगोपचार के क्षेत्र में अनेक अनुसंधान हो रहे हैं, जिसका एक रूप हमें महापुराण में देखने को मिलता है कि गर्भस्थ महिलाओं की स्वास्थ्य-वृद्धि हेतु उस काल में संगीत का उपयोग होता था।

स्वयंवर, विवाह, राज्याभिषेक, राजाओं के प्रस्थान एवं आगमन के समय, पुत्र-जन्मोत्सव आदि मांगलिक अवसरों पर गायन, वादन एवं आनंदातिरेक की अभिव्यक्ति होती थी। पद्मपुराण में उल्लेखित गंधर्वों के गायन का प्रसंग स्पष्ट करता है कि अत्यधिक हर्षोल्लास की स्थिति में स्वभावतः मनुष्य के मुख से संगीत प्रस्फुटित हुआ। इससे सिद्ध होता है कि संगीत प्रारंभ से ही मनुष्य की भावाभिव्यक्ति का सबल साधन रहा है।

इतना ही नहीं, उस काल में कन्याएं स्वयंवर हेतु संगीत प्रतियोगिता आयोजित करती थीं और उनमें विजयी पुरुष का वर के रूप में चयन करती थीं। हरिवंश पुराण में उल्लेखित गंधर्वसेना एवं वसुदेव का वीणावादन का प्रसंग इसकी पुष्टि करता है।

पूजा, अर्चना एवं भक्ति में संगीत उस काल में भी साधन-रूप में प्रयुक्त होता था। रावण का भक्ति-प्रसंग इसकी पुष्टि के रूप में देख सकते हैं। इस प्रकार संगीत के लौकिक एवं आध्यात्मिक, दोनों ही पक्ष जैन पुराणों में वर्णित हैं।

उक्त सभी बिंदुओं के आधार पर स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जैन पुराणों में संगीत का चरम उत्कर्ष रूप देखने को मिलता है। अनेक स्थानों पर ऐसे प्रसंग आए हैं, जो गायन, वादन एवं नृत्य संबंधी महत्त्वपूर्ण तथ्यों को उजागर करते हैं।

पुराणों में जातियों का विस्तृत उल्लेख उपलब्ध होने के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस काल में जाति गायन प्रचार में था तथा अठारह जातियों के ग्रह, अंश, न्यास आदि नियम पूर्णतया निश्चित थे। गायन में मूर्च्छनाओं, तानों, वर्णों एवं अलंकारों आदि सौंदर्यवर्धक क्रियाओं का प्रयोग उस समय में भी होता था। गायन के साथ उत्तम स्तर के वाद्यों एवं वाद्य के चार प्रकारों का उल्लेख मिलता है, जिनमें ततवाद्यों को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। पुराणों में वीणा-वाद्य का उल्लेख विशेष रूप से उपलब्ध होता है। सत्रह तारों वाली सुघोषा एवं घोषवती वीणा को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। मुरज, मृदंग, दुंदुभि आदि को ताल-वाद्य बताया गया है तथा गायन एवं नृत्य के साथ ताल की अनिवार्यता पर बल दिया गया है।

नृत्य के विभिन्न प्रकारों—तांडव एवं लास्य आदि का वर्णन आया है तथा दोनों नृत्यों के अलग-अलग भाव-प्रदर्शनों को स्पष्ट समझाया गया है। नृत्य में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न सौंदर्यवर्धक क्रियाओं, यथा पुष्पांजलि क्षपण, फिरकी, लीलापूर्वक अंग-संचालन, द्रुतपद संचालन एवं विभिन्न रेचकों, गंगहारों का विस्तार से विवेचन है।

जैन पुराणों में गायन, वादन एवं नृत्य-कला की उत्तमोत्तम संगति को ही संगीत का आदर्श सौंदर्य माना गया है।

अतः माना जा सकता है कि जैन पुराणों के शोध से संगीत के शास्त्रीय रूप के जो तथ्य उजागर होंगे, वे निश्चय ही संगीत-कला के अध्येताओं के लिए लाभप्रद होंगे। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500–2000 शब्दों से लेकर 2500–3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

डाब

कहानी

रामनारायण शुक्ल

अकसर रात नींद टूट जाती है। जब भी कभी ऐसा होता है कि रात नींद नहीं टूटती, तो सुबह हलका-सा आश्चर्य होता है। रात नींद टूट जाती है और प्यास लगी होती है। कितनी भी प्यास लगी हो, अकसर पानी नहीं ही पीता। नींद फिर आ जाती है और सुबह उठने पर प्यास की बात कभी-कभी मन में होती ही नहीं।

कभी-कभी अकेले रहने की बात सोचकर आश्चर्य होता है। कभी इस तरह अकेले रहना पड़ेगा, इसकी कल्पना भी नहीं की। वर्षों बाद शायद इस बात पर विश्वास भी नहीं कर पाऊंगा।

और तेजी से साइकिल चलाते हुए भी कभी-कभी प्यास लग जाती है। यह सोचकर एक अजीब-सी खुशी होती है कि प्रयत्न करने पर पानी कहीं भी मिल जाएगा।

लेकिन कभी-कभी कितना ही पानी पीने पर प्यास नहीं बुझती। मां ने एक बार बताया था कि बहुत देर तक प्यासे रहने के बाद प्यास खर हो जाती है। जब हम लोग छोटे थे, मां प्यास खर हो जाने की बात अकसर किया करती थीं।

न जाने क्यों, अंतर में कहीं बहुत गहरे जाकर मेरे मन में यह बात बैठ गई है कि मेरी मृत्यु प्यास से होगी। प्यास से मृत्यु की बात सोचना अजीब-सा लगता है। लेकिन संभव है, जीवन के शेष दिन किसी रेगिस्तान में ही बिताने पड़ें। बहुत छोटे-छोटे रेगिस्तानों के बारे में सोचते रहने की मेरी आदत है।

मृत्यु की बात अब नहीं करूंगा, करनी भी नहीं चाहिए। जीवन अपने सारे अंधकार के बावजूद मृत्यु से अधिक आकर्षक है।

'....कितनी भी प्यास लगी हो, लेकिन तालाब का पानी मैं नहीं पी सकता।'—जयंत ने जोर देकर कहा था।

हम सब आश्चर्य से उसके चेहरे की ओर देखने लगे थे। पिंटू और सरल का चेहरा काफी दयनीय हो उठा था। हम लोग पिछले तीन-चार घंटों से प्यासे भटक रहे थे। रास्ते में छोटे-छोटे कई तालाब मिले थे, लेकिन मुझे और जयंत को तालाब का पानी पीने की बात समझ नहीं आ रही थी। पश्चिमी बंगाल के किसी इलाके में भी प्यास से दम घुट सकता है, इसके बारे में कोई दूसरा कहता तो सहज ही विश्वास न होता।

न जाने क्यों, अंतर में कहीं बहुत गहरे जाकर मेरे मन में यह बात बैठ गई है कि मेरी मृत्यु प्यास से होगी। प्यास से मृत्यु की बात सोचना अजीब-सा लगता है। लेकिन संभव है, जीवन के शेष दिन किसी रेगिस्तान में ही बिताने पड़ें। बहुत छोटे-छोटे रेगिस्तानों के बारे में सोचते रहने की मेरी आदत है। मृत्यु की बात अब नहीं करूंगा, करनी भी नहीं चाहिए। जीवन अपने सारे अंधकार के बावजूद मृत्यु से अधिक आकर्षक है।

हम लोग एक तालाब के पास हताश-से बैठे थे। पिंटू और सरल के कहने पर मैं सामने के गंदले तालाब का पानी पीने के लिए राजी हो गया था। लेकिन जयंत था कि किसी भी तरह स्वीकार नहीं कर पा रहा था। तभी दूर से आता हुआ एक आदमी दिखाई दिया। तालाब के लिए जयंत जितनी उपेक्षा हम सबके मन में फिर आ गई। उस आदमी के कंधे से पंद्रह-बीस डाब लटक रहे थे।

लगा, प्यास अब है ही नहीं। वह कोई दूसरी चीज थी, जो प्यास बनकर परेशान कर रही थी।

उस आदमी ने बताया कि पास ही उसका गांव है। पास ही से उसका मतलब चार मील था। थोड़ी दूर (नौ मील) स्थित स्टेशन पर वह डाब बेचने गया था। इतने नहीं बिके और वह वापस गांव लौट रहा है।

जिंदगी कितनी मुश्किल है, उस क्षण जैसे पहली बार महसूस हुआ था।

हम लोगों ने उसके सारे डाब पी डाले थे। जयंत ने ही सबसे अधिक पीए थे। प्यास भी शायद उसे ही सबसे अधिक लगी थी। पैसे जयंत ने ही दिए थे। जितने डाब वाले ने मांगे थे, उससे दो आने अधिक।

सोचा, कभी गांव गया तो मां को बताऊंगा कि कितनी भी खर प्यास हो, मां, डाब पीने से बुझ जाती है।

पिछले साल दिल्ली में एक परीक्षा दी थी। तीन आदमियों की जगह के लिए हम तिरसठ लोग परीक्षा दे रहे थे। पेपर अच्छा नहीं हो रहा था और सारा समय मैं यही सोचता रहा था कि समय हो जाने पर कॉपी सबमिट करूंगा और फिर बाहर जाकर डाब पीऊंगा।

बाहर आकर दूर-दूर तक डाब वाले को देखता रहा था। कहीं भी वह नहीं था। फिर न जाने अचानक कैसे याद आया कि यह दिल्ली है।

कलकत्ते में जब भी कभी परचे अच्छे नहीं कर पाता था, बार-बार प्यास लगती थी। लगता था, प्यास का यह सिलसिला कभी खत्म ही नहीं होगा। लेकिन बाहर आकर डाब पीने के साथ ही प्यास खत्म हो जाती थी।

और जयपुरिया कॉलेज के सामने छोटे-से पार्क में खड़ा रमेश, प्रसन्न-सा कह रहा था—'कलकत्ते में यदि चार बजे हों तो लंदन....'

प्रसन्न का चेहरा काफी उदास था। उसका वह सवाल गलत हो गया था, जिसके लिए उसने बारह नंबर हॉल में ही जोड़ लिए थे। उसकी आवाज किसी प्यासे जैसी हो गई थी।

कुछ लोग परीक्षाओं के मामले में बहुत 'अनलकी' होते हैं। सब-कुछ आते हुए भी....कहीं-न-कहीं जीवन में भी ठीक यही बात होती है। प्यास....

प्यास की बात अब नहीं करूंगा। मां बचपन में एक किस्सा सुनाया करती थीं : कोई भिखारी था। उसके साथ कुछ ऐसा था कि थोड़ी देर मांगता था, तब भी पाई-भर ही मिलता था और सारा दिन और रात मांगता था, तब भी।

'ऐसा ही एक किस्सा और है,' मां आगे कहतीं—'एक आदमी नदी के किनारे बैठा हुआ प्यासा मर....'

प्यास की बात फिर आ गई।

मां की कहानियों की बात अब नहीं करूंगा। मां के पास कहानियों की एक निश्चित संख्या थी। इसीलिए हम सब भाई-बहिनों को एक-एक कहानी कई-कई बार सुननी पड़ी थी। मां को शायद नहीं पता था कि उनकी कहानियों से अधिक आश्चर्यजनक कहानियां हम सब देखेंगे।

....विवेकानंद रोड के किसी मकान की छत पर बने एक कमरे में एक आदमी अपनी पत्नी तथा छः बच्चों के साथ रहता था। छत में एक टंकी थी, जिससे आवश्यकता पड़ने पर उसे पानी मिल जाता था। लेकिन फिर मकान-मालिक ने पाइप काट दिया और छत पर बना हुआ वह कमरा रेगिस्तान हो गया। वह आदमी नीचे सड़क से पानी लाने लगा और एक दिन भरी हुई बालटियों को लेकर चढ़ते समय....

हम सब भाई-बहन यह कहानी जानते हैं। शायद हमारी बहनें अपने बच्चों को यह कहानी सुनाएं। नहीं, ऐसी कहानियां बच्चों को नहीं सुनाई जातीं। बच्चों को वे ही कहानियां सुनाई जा सकती हैं, जिनमें सत्य की विजय होती है।

लेकिन तीन बजे के करीब नींद अपने-आप खुल जाती है। प्यास लगी होती है और अजीब-सी बेचैनी महसूस होती है। वातावरण को 'डिस्टर्ब' करने की इच्छा नहीं होती और लेटे रहना ही अच्छा लगता है।

उठकर चाय या शर्बत पीने की बात बहुत घटिया लगती है और पानी की बात मन में आती ही नहीं। एक अजीब तरह से मुंह बिलकुल सूखा होता है और लगता है, किसी कड़ाही में पड़ी हुई जीभ तलफ रही है।

नींद टूटने पर अकसर तो यह देखता हूं कि बत्ती जल रही है। रात सोते समय बत्ती बुझाना अकसर भूल जाता हूं।

बिजली के प्रकाश में कपड़ों, किताबों और कैलेंडरों की ओर देखता रहता हूं।

रात को प्यास भी कभी-कभी इसलिए अच्छी लगती है कि दम घुट जाने की बात पर ही निष्कृति दिखाई देती है।

लेकिन, जानता हूं कि ऐसा कुछ नहीं होगा। किसी दिन जब दम घुटने को होगा तो कोई डाबवाला आएगा और कहेगा कि चार मील पास को कहते हैं और नौ मील दूर को। और जब सारे डाब पीकर हम उसे कीमत से दो आने अधिक देंगे तो वह इस तरह मुस्कराएगा, जैसे उसे सारी दुनिया मिल गई हो और तब हमें अपनी प्यास के लिए शर्म-सी महसूस होगी।

जिंदगी एक साथ ही कितनी मुश्किल और आसान है—ठीक किसी अलजबरा के प्रश्न की तरह! कभी-कभी ऐसा होता है, ठीक ऐसा, जैसे अचानक किसी कमजोर विद्यार्थी की 'बैलेन्स-शीट' ठीक हो गई और वह खुशी को न संभाल पा रहा हो।

किसी परीक्षा में एक बार ऐसा ही हुआ था। बाद में पता चला कि वह प्रश्न ही गलत था। 'बैलेन्स-शीट मिलनी नहीं चाहिए थी।

'क्राउन' के सामने मैं प्रसन्न और रमेश के साथ खड़ा था। फंटूश बना हुआ देवआनंद बहुत भला लग रहा था। बाहर खड़े हम तस्वीरें देख रहे थे। उस समय तीनों आदमियों के पास कुल मिलाकर इतने भी पैसे नहीं थे कि तीन टिकटें खरीदी जा सकें। सिर्फ दो टिकटों की व्यवस्था हो पा रही थी।

'तुम लोग देख लो,'—मैंने रमेश की ओर आत्मीयता से देखते हुए कहा था—'मैं फिर देख लूंगा। मेरी कोई खास इच्छा नहीं है।'

रमेश हिचक रहा था।

—'ठीक है, हम लोग देख लेते हैं।' प्रसन्न ने कहा था।

टिकट लेकर जब वे लोग अंदर चले गए, तो मैं ठगा-सा खड़ा रह गया।

शायद मैं यह चाहता था कि मेरे बहुत कहने पर भी वे न जाएं। उस दिन मैं शाम बाजार तक पैदल गया था और क्षण-भर को भी मेरे मन में यह बात नहीं आई थी कि आस-पास से खाली ट्रामें-बसें गुजर रही हैं।

सारा समय 'कामन-रूम' में बैठा शतरंज खेलता रहा था और लगातार तीन बाजी हार गया था।

उस दिन जीतने की प्यास ने परेशान किया था और लगा था कि एक तरह की प्यास को दूसरी प्यास से 'सब्स्टीट्यूट' नहीं किया जा सकता।

—'....क्या ऐसा नहीं हो सकता कि हम लोग गांव चले जाएं और वहां चलकर साधारण किसानों की तरह की जिंदगी बिताएं?'—निशा ने मेरे चेहरे को पढ़ते हुए कहा था।

मेरी इच्छा बड़ी जोर से हंसने की हुई थी। लेकिन मैंने गंभीर रहकर ही कहा था—'तीसरे दिन तुम्हारा और पांचवें दिन मेरा जी ऊब जाएगा। ऐबसॉल्यूट बोरडम! हिंदुस्तान में ऐसे गांव नहीं हैं, जैसे बंबई की पिक्चरों में दिखाए जाते हैं।'

....टु ग्रेस ऑकेजन आफ वेडिंग आफ देयर डॉटर निशा....

पीले रंग का वह कार्ड मुझे पतझड़ के पीले पत्ते जैसा लगा था।

तीन वर्ष बाद, फिर अचानक बर्दवान स्टेशन के प्लेटफार्म पर निशा से भेंट हुई थी। वह अपने पति तथा एक साल के बच्चे के साथ थी। बच्चे को देखकर मुझे गांववाली वह बात याद आ गई थी और मैं अनायास ही मुस्कराने लगा था।

दुनिया इतनी छोटी क्यों है कि हम एक-दूसरे के रास्ते काटने को बाध्य होते हैं?

गाड़ी चली तो मैं बहुत दूर तक खिड़की से प्लेटफार्म पर खड़ी निशा को देखता रहा था। निशा ने दो-तीन बार बड़े सलीके.से रूमाल हिलाया था, लेकिन फिर अचानक पति की ओर देखकर दूसरी ओर देखने लगी थी।

मैंने निशा का पता ले लिया था और कलकत्ते तक सोचता आया था कि जाकर उसके बच्चे के लिए कोई उपहार भेजूंगा।

लेकिन कलकत्ता?

कलकत्ता जाने के रास्ते में सब-कुछ सहज लगता है, लेकिन कलकत्ते में नहीं। 'बड़ा बाजार' के बीच से गुजरते

समय सारा उत्साह मर जाता है। लगता है, कहीं दूसरी जगह जा रहा था, भटक कर दूसरी जगह आ गया।

लेकिन प्यास?

एक बार सत्यनारायण पार्क के पास लगातार दो-तीन डाब पी गया था। लेकिन प्यास नहीं गई। उस दिन पहली बार 'बड़ा बाजार' से डर लगा था। क्या सचमुच यह इतना शक्तिशाली है?

न्यू अलीपुर में राजा सामंत के यहां दो-तीन बार 'बिल्स कलेक्ट' करने गया था। बहुत देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। जब भी कभी पानी मांगता था, शर्बत या ऐसी ही दूसरी कोई चीज मिलती थी। जब भी कभी वहां जाने की बात उठती, यह सोचकर डर लगता था कि प्यास लगेगी और सूखे हुए मुंह के साथ वापस आकर सड़क में नल का पानी पीना पड़ेगा।

राजा सामंत के यहां से लौटते हुए ही रास्ते में एक बार डाब पीने की बहुत इच्छा हुई; लेकिन पास में पैसे बिलकुल नहीं थे। पॉकेट के चार सौ सत्ताईस रुपये बारह नए पैसे का 'टु एकाउंट पेई ओनली' चैक था और मैं रास्ते में मिलने वाले हर डाब की तरफ लालच से देखता था।

और रात को स्वप्न में मुझे डाब-ही-डाब दिखाई दिए थे।

पुरानी बातों की याद करते हुए अकसर भ्रम हो जाता है। स्वप्न में देखी हुई बातें सच लगती हैं और सच बातें स्वप्न में देखी हुई-सी।

लेकिन स्वप्नों के उस सिलसिले का क्या हो, जो कभी सच नहीं होगा!

बर्दवान के 'प्लेटफार्म' पर खड़ी निशा ने कितनी अजीब तरह से विदा दी थी!

—'जीवन बहुत गहरे जाकर भी सतह का ही होता है'—रमेश ने मैदान में फैली हुई भीड़ की ओर देखते हुए कहा था—'क्या यह आश्चर्य नहीं है कि सब-कुछ जानते रहने के बाद भी हम सतह पर ही जाने को बाध्य होते हैं?'

....निशा के पति ने उसकी ओर देखा और उसका रूमाल हिलाता हाथ रुक गया। मेरी आंखों में कोयले का एक कण चला गया, जो कलकत्ते तक परेशान करता रहा।

बहुत छुटपन में कुछ दिन गांव रहा था। गर्मियों में अकसर हम सब भाई-बहिनों की आंखें दुख आती थीं। पिता भी अकसर उन दिनों वहीं होते थे। बहुत सुबह इक्के पर वे हम सब लोगों को शहर के अस्पताल ले जाते थे। उन दिनों वहां कोई बंगाली डॉक्टर था और पिता के उससे काफी अच्छे संबंध थे। हम लोगों में कोई भी उतनी अच्छी बंग्ला नहीं बोल पाता, जितनी अच्छी कि वे बोलते हैं।

यदि लौटने की जल्दी न होती तो हम लोग दोपहर को डॉ. सेन के साथ उनके घर जाते। वहां पता नहीं, क्या-क्या खाना पड़ता था और लौटते समय रास्ते में पचीस-तीस मिनट के अंतर से हममें से किसी-न-किसी को प्यास लग आती थी।

पिता खीझते हुए कहते थे—'तुम लोगों की प्यास से मैं परेशान हो जाता हूं।'

आठ मील के उस रास्ते में सात-आठ कुएं तो थे ही। लेकिन, हमारे शहर और गांव के ठीक बीच में ही एक कच्चा कुआं था। उसका पानी बहुत ही अच्छा था और इस रूप में उसकी थोड़ी प्रसिद्धि भी थी।

पिता इक्के को वहां जरूर रुकवाते थे और प्यास न होने पर भी हम सबको उस कुएं का पानी पीना पड़ता था।

पिछले महीने, सात-आठ साल बाद, गांव गया था। इक्का उस कुएं के सामने से गुजरा तो एकाएक पिछली सारी बातें आंखों में तैर गईं।

—'तुम्हारे पास लोटा-डोरी होगी?'—मैंने इक्केवाले से पूछा।

—'नहीं। लेकिन आप करेंगे क्या?'

—'प्यास लगी है। जरा पानी पीना चाहता था।'

—'लेकिन यहां तो कोई कुआं नहीं है।'

—'और यह?'

—'इसमें कहां पानी है? यह तो पूर दिया गया है। अब तो बस यह छोटा-सा गड्ढा ही है।'

—'क्यों?....इसका पानी तो दूर-दूर तक प्रसिद्ध था।'

—'तीन-चार साल पहले इसमें किसी स्त्री की लाश मिली थी। बहुत प्रयत्न के बाद भी लाश की शिनाख्त नहीं हो सकी। उसके चार-छः दिन बाद ही पास के गांववालों ने इसे पूर दिया था।'

मुझे निशा की बात याद हो आई—'....क्या ऐसा नहीं हो सकता कि हम लोग गांव चलें और वहां चलकर साधारण किसानों की तरह जिंदगी बिताएं?'

—'जरा इक्का रोकना।'—एकाएक, न जाने क्यों, मैंने कह दिया।

इक्केवाले ने आश्चर्य से मेरी ओर देखा। हम लोग कुएं से लगभग आधा फर्लांग आगे आ गए थे। इक्केवाले को रुकने के लिए कहकर मैं कुएं तक आया था। दूर-दूर तक कहीं कोई दिखाई नहीं दे रहा था।

वहीं खड़े हुए, न जाने क्यों सच ही मुझे बड़े जोर से प्यास लग आई थी और मैं हताश-सा चारों ओर देखने लगा था।

उस सुनसान दुपहर में सड़क पर खड़ा अकेला इक्का मुझे अजीब-सा लगा था।

....किसी ने अश्वमेध के लिए एक घोड़ा छोड़ा था और वह इक्के में जाकर जुत गया।

चौंककर चारों ओर देखता हूं। उस समय शीशे में अपना चेहरा देखने की बड़ी तीव्र इच्छा हुई थी।

बचपन में मेरे सुंदर होने की काफी प्रसिद्धि थी, ठीक इस कुएं के पानी की तरह। और आज इस कुएं पर खड़ा मैं....

....एकाएक मैं ठिठककर खड़ा हो गया था। निशा से शोभा कह रही थी, 'तुम्हारे राम की आंखें कितनी अच्छी हैं! ऐसी आंखें, याद नहीं आता, कहीं और देखी हों।'

फिर मुझे देखकर वे दोनों झेंप गई थीं।

इक्केवाले की ओर देखकर चौंक जाता हूं। न जाने क्या सोच रहा होगा?

बहुत धीरे-धीरे चलकर इक्के के पास तक आता हूं। फिर डरा हुआ-सा कहता हूं—'चलो!'

और ऐसा अकसर होता है कि परचे खराब होने पर बार-बार प्यास लगती है और सारा समय गेट के बाहर पाए जा सकने वाले डाब की याद रहती है। ❖

हमारा कर्तव्य : एक चिंतन

पृष्ठ 32 का शेष

उपलब्ध हुआ है—वह है भारतमाता! भारतमाता अर्थात् विविध रूप दर्शन है। भारतीय मूर्तिकार के लिए अर्धनग्न दक्षिण भारतीय अस्पृश्य बालक, चित्रकार के लिए प्रातःकाल समुद्रतीर पर स्नान और अर्चना करने वाली नारी, भारतीय साड़ी का सौंदर्य, ग्रामीण जीवन, मंदिरों का दृश्य, गंगा के घाटों पर की भीड़, बच्चों के खेल, कितने-कितने विषय उपलब्ध हैं!

परंतु सबसे पहले हमें ऐसे कलाकार चाहिए जो कवि भी हों और चित्रकार भी। जिनमें हृदय और बुद्धि, भावना और विचार, गद्य और पद्य संलग्न हों। जिनके हृदय में भारत-भक्ति हो, जिनकी नसों में भारतीय रक्त हो—ऐसे कलाकार चाहिए। राम और कृष्ण, भीष्म और युधिष्ठिर, सीता-सावित्री, बुद्ध-महावीर, शिवाजी-प्रताप, जीजाबाई-अहल्याबाई, लक्ष्मी-दुर्गावती आदि का चित्रण पत्थर, कपड़ा व कागज पर, चित्रों में या शब्दों में ऐसा हो कि शरीर रोमांचित और अंतःकरण दीप्त हो। इन श्रेष्ठ विभूतियों के जीवन-प्रकाश से हमें अपने भविष्यकालीन कर्तव्यों की प्रेरणा ग्रहण करनी है। 'हिंदुस्तान, हिंदुस्तान' यह घोषणा मात्र संसार को सुनाने के लिए ही न हो, वरन अपने हृदय के गर्भगृह में भी यही ध्वनि गूंजती रहे। यही कला का ध्येय, गंतव्य और मंतव्य; यही प्राप्तव्य, यही निदिध्यासितव्य! कला ही आदर्श की दिव्य जननी होती है। जब कला साकार होती है, कलाकार के स्वप्न से सत्यवृष्टि में अवतरित होती है, तब वह ध्येय-शिशु को गोद में लिए ही आती है।

अतः पग-पग पर द्विविध विजय संपादन करनी है। इधर भारतवर्ष में भारतीय विचार प्रकट करना और उधर संसार के ज्ञान भंडार में वृद्धि करना। वर्तमान पीढ़ी के लिए यह भव्य, दिव्य आवाहन है; यही है आज का कर्मक्षेत्र, यही कुरुक्षेत्र। आज की लड़ाई हम कैसे लड़ते हैं, इस पर आगामी पीढ़ी का भवितव्य ही नहीं, अस्तित्व भी निर्भर करता है। हमारा राष्ट्रीय जीवन एक प्रकार से राष्ट्रीय प्रहार, आघात बनने को बाध्य है। अभी मानो घिरे हुए राष्ट्र-दुर्ग की बाहरी प्राचीर पर धावा हो ही रहा है। आइए, हम उठ खड़े हों। उज्ज्वल अतीत के धनी भारतीयों को शरीर पर कवच धारण कर रात्रि में शयन करने का अभ्यास है, शरशय्या पर पड़े भीष्म के हम वंशज हैं। नवीन आध्यात्मिकता, नव धर्म के नाम से आगे बढ़ें; संसार के समस्त भंडार अधिगृहीत करने के लिए सीमोल्लंघन करें। 'बढ़े चलो, बढ़े चलो, मां के लाडलो!' भारतमाता के शूर सैनिको! आगे बढ़ो। धैर्य के साथ, परिश्रमपूर्वक। ❖

अशोक 'अनुराग' की कविताएं

प्रार्थना-दीप

दो हिमखंड उज्ज्वल
केसरिया पांवों में रूपाकार
महावर के
लता कुसुमों की
नक्काशी-से रचे हुए

स्पर्श से
अंगुलियों में देर तक
झरता रहता है : एक छंद
सुवास से अभिमंत्रित

खुली आंख वह : प्रार्थना का दीप
मुंदी आंख : ध्यान का मोती

असीम का सौंदर्य

मैंने कुछ
फूल चढ़ा दिए थे
जिनमें कुछ भी
देखा हो उसने

अपने भीतरी आकाश में
बहुत छोटी देखता हूं
आस्था, श्रद्धा जैसी लहरें
नहीं वह

हर शब्द
जहां खो देता है
अपनी सीमा में
उस असीम का सौंदर्य

केवल उसे बचा रखना चाहा था
उस क्षण

मुक्ति

जिस जल से
विकसे हैं कंवल ये
सदियों से
देता आया त्राण पापों से

फिर मुक्ति से
किंचित भी कम
कैसे होते वे चरण?

खोजता रहूंगा मैं

सब-कुछ
सिमट आएगा शून्य में अंततः
या फिर
बिखर जाएगा अनंत में
सब-कुछ
पर
खोजता ही रहूंगा तब भी
मैं वह पदचिह्न
इससे इतर कहां है मुक्ति?

स्मृति-शिखर

जमे रहने दो
मेरे भीतरी आकाश में
हिमधवल
उन स्मृति-शिखरों को

जब-तब गलेंगे
गंगा बनकर ही बहेंगे।

इस अनुष्ठान में

प्राण धूप बन
अहर्निश उड़ते रहे
दिगंत में

आहुति-सा
होम हो चुका हूं मैं
इस अनुष्ठान में

माथा न सही देव!
चरण तो छूने दिए होते
इस भस्म को।

जहां हवा गुम है

साथ निकले तो हो
मगर....

हो सकता है
कई बार तुम्हारी
आंखें फटी रह जाएं....
या होंठ सिकुड़े....
कि मुंह खुला रह जाए....

मैं उन रास्तों पर हूं
जहां हवा गुम है। ❖❖

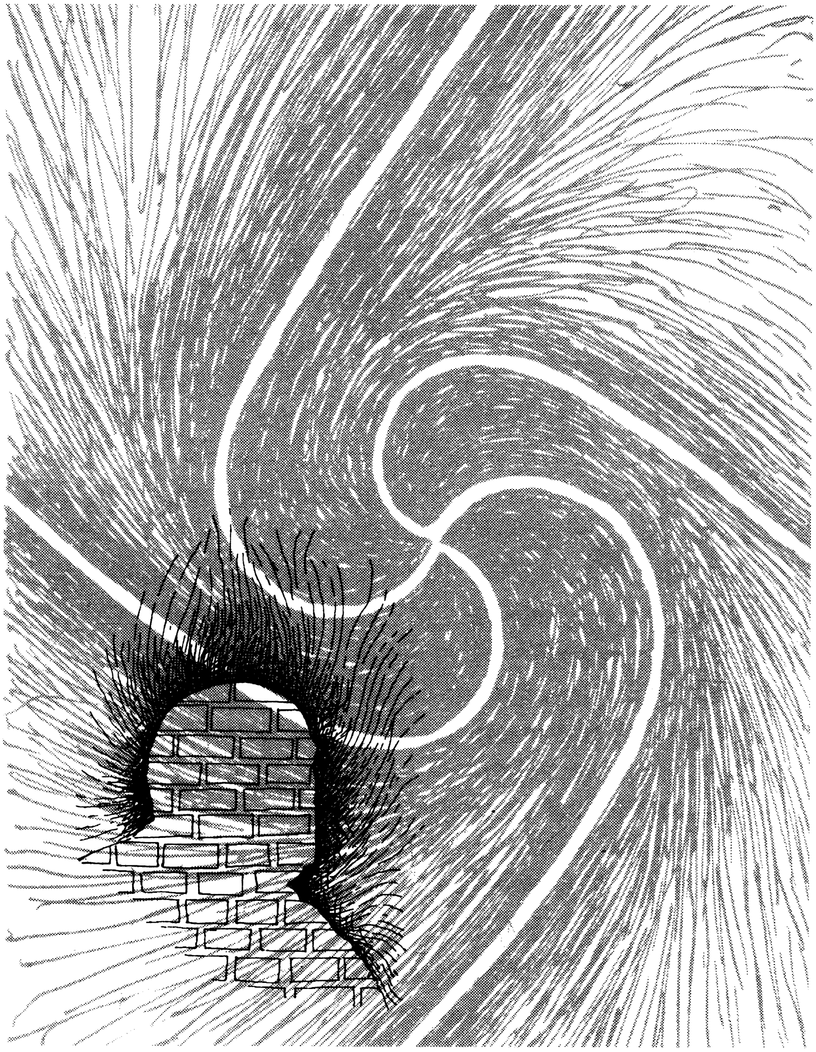

शीलन

सच्चा आत्मस्वातंत्र्य प्राप्त करने के लिए सामूहिकता आवश्यक है। सामूहिकता की विशाल उर्वर भूमि में ही व्यक्ति के वृक्ष और लताएं फूलती और फलती हैं। यह स्वस्थ सामूहिकता तभी होगी जब कि हम आर्थिक समानता उत्पन्न करें, और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति के पूरे साधन और मौके दें। यह सामूहिकता की भावना आत्मस्वातंत्र्य और व्यक्ति-स्वातंत्र्य के अत्यंत अनुकूल है।

—गजानन माधव मुक्तिबोध

मन—चेतन; अवचेतन

साध्वी अनुशासनाश्री

पातंजल योग दर्शन में मन की वृत्तियों की चर्चा करते हुए पतंजलि ऋषि ने लिखा है—

वृत्तय: पंचतय्य: क्लिष्टाक्लिष्टा:।
प्रमाण, विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृतय:।।

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये पांच मन की वृत्तियां हैं, जो तीव्र क्लेश देने वाली भी हो सकती हैं और अक्लेशकारी भी। मन की इन वृत्तियों को मनोवृत्ति कहा गया है। इन वृत्तियों का संचालन करने वाला है—अवचेतन मन।

हमारे मन की जैसी वृत्ति होती है, हम कार्य भी वैसा ही करते हैं। मनोवृत्ति जितनी पुरानी होती है, उतनी ही गहरी होती चली जाती है। फिर उसे बदलना या उसके विपरीत कार्य करना बहुत कठिन हो जाता है।

उदाहरणत:—एक गांव में एक नट अपना करतब दिखा रहा था। उसका खेल देखने के लिए मानो पूरा गांव इकट्ठा हो गया। उस भीड़ में दो चोर भी शामिल थे, जो दत्तचित्त हो उसका करतब देख रहे थे। नट अपना तमाशा दिखा रहा था। वह फुर्ती से रस्सी के सहारे ऊपर चढ़ता है, नीचे उतरता है। वे उस नट के करतब से आश्चर्यचकित रह गए। आपस में विचार करने लगे कि काश! यह नट हमारे हाथ लग जाए तो हमारी पौबारह-पचीस है। फिर हमें किसी बात की चिंता नहीं रहेगी। रात को मकानों पर चढ़ने में हमें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, अगर यह नट हमारे साथ हो जाएगा तो हमारी ऐसी समस्याओं का समाधान हो जाएगा। चलो, हम इस नट से बात करें।

मन हमारे स्थूल में है, जो कि केवल विचार करता है, मनन करता है तथा इंद्रियों के माध्यम से काम करता है। वह पुराने विचारों को भूलता रहता है तथा नित नए विचार पैदा करता रहता है। लेकिन, मन की एक कमजोरी है कि वह सब-कुछ करता हुआ भी याद कुछ नहीं रखता। क्योंकि याद रखने का काम मन का नहीं, अवचेतन मन का है। मन का काम है—मनन करना। इसे याद रखने का काम करता है सूक्ष्म शरीर का अवचेतन मन। अवचेतन मन की इस क्षमता को हम स्मरण-शक्ति कहते हैं। क्योंकि जो कुछ भी घटित होता है वह सब अवचेतन मन पर अंकित हो जाता है।

ऐसा सोचकर दोनों चोर उस नट के समीप पहुंचे। उससे दोस्ती की। वह नट उनकी पकड़ में आ गया और उनका दोस्त बन गया।

एक रात दोनों चोर नट को साथ ले चोरी करने के लिए निकले। नगरसेठ की हवेली के समीप पहुंच चोरों ने अपने पांव थाम लिए और उस नट से कहा—'दोस्त! यह नगरसेठ की हवेली है। इस हवेली में घुसने के लिए हमने अनेक बार प्रयत्न किए, लेकिन हमारे सभी प्रयत्न विफल रहे। हम अंदर प्रवेश नहीं कर सके। अब हमें तुम्हारे जैसा दोस्त मिला है। जरूर हम कामयाब हो सकेंगे। तुम अपनी रस्सी के सहारे ऊपर चढ़ो और हवेली का मुख्य दरवाजा खोल दो। फिर हम सब ऊपर जाकर मालामाल हो जाएंगे।'

नट कुछ नहीं बोला। वह चुपचाप खड़ा रहा। तब चोरों ने कहा—'दोस्त! क्या बात है? देरी क्यों कर रहे हो? फुर्ती से ऊपर चढ़ो और दरवाजा खोलो।' तब नट ने कहा—'मैं अभी ऊपर चढ़ जाता हूं, पर दोस्तो! मेरा ढोल कहां है? तुम लोग ढोल बजाओ, मैं अभी ऊपर चढ़ जाता हूं। बिना ढोल की थाप के मैं ऊपर नहीं चढ़ सकता।'

यह है मनोवृत्ति, आदत। यह आदत अवचेतन मन से निर्मित, प्रभावित और नियंत्रित होती है।

अवचेतन मन क्या है? इसे समझने के लिए शरीर के तीन भाग किए गए हैं—(1) स्थूल शरीर, (2) सूक्ष्म शरीर, (3) कारण शरीर।

जो शरीर का हिस्सा हमें दिखाई देता है—वह स्थूल शरीर है। स्थूल शरीर के अंदर ही सूक्ष्म शरीर होता है। अत्यंत सूक्ष्मता के कारण हमें वह दिखाई नहीं देता। इस सूक्ष्म शरीर से भी सूक्ष्म शरीर होता है, जिसे हम कारण शरीर कहते हैं।

इन तीनों शरीरों (स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर) से संबंध रखते हैं—पांच कोश। स्थूल शरीर को दो भागों में विभक्त किया जाता है—अन्नमय कोश, प्राणमय कोश। सूक्ष्म शरीर भी दो भागों में बंट जाता है—क्रिया-प्रधान, ज्ञान-प्रधान। क्रिया-प्रधान शरीर मनोमय कोश कहलाता है तथा ज्ञान-प्रधान शरीर विज्ञानमय कोश कहलाता है। कारण शरीर—जो अव्यक्त शरीर या लिंग शरीर कहलाता है, उसे आनंदमय कोश कहा जाता है।

जिस प्रकार स्थूल शरीर के साथ मिलकर हमारा मन मस्तिष्क से विचार करता है, दिमाग से सोचता है—वैसे ही हम अगर थोड़ा गहराई में उतरें तो हमारा सूक्ष्म शरीर के अवचेतन मन से साक्षात्कार हो जाता है। जिसे अंतरमन (Subconscious mind) भी कहा जाता है।

मन का काम मस्तिष्क के माध्यम से स्थूल शरीर द्वारा किए गए कार्यों के विषय में स्थूल विचार या संकल्प करना है। अवचेतन मन का काम है—पूर्वकाल में किए गए विचारों और कार्यों का प्रभाव ग्रहण करना तथा इसे तब तक कायम रखना कि जब तक दूसरा विपरीत प्रभाव इसे नष्ट कर ग्रहण न कर लिया जाए।

इन दोनों (मन और अवचेतन मन) के कार्य भी अलग-अलग होते हैं। जैसे एक व्यक्ति कार चला रहा है और साथ में बातें भी करता जा रहा है। उसका मन और मस्तिष्क बातों में लगा रहता है, लेकिन उसके हाथ अपने-आप जरूरत के मुताबिक 'स्टेयरिंग' घुमाते रहते हैं, 'गियर' बदलते रहते हैं। उसके पैर जरूरत के अनुसार 'क्लच' और 'ब्रेक' दबाते रहते हैं, छोड़ते रहते हैं। ये सभी कार्य 'ड्राइवर' के अवचेतन मन से संचालित होते रहते हैं। हमारा ड्राइवर है मन तथा अन्य सभी क्रियाएं करने वाला है—अवचेतन मन।

मन हमारे स्थूल में है, जो कि केवल विचार करता है, मनन करता है तथा इंद्रियों के माध्यम से काम करता है। वह पुराने विचारों को भूलता रहता है तथा नित नए विचार पैदा करता रहता है। लेकिन, मन की एक कमजोरी है कि वह सब-कुछ करता हुआ भी याद कुछ नहीं रखता। क्योंकि याद रखने का काम मन का नहीं, अवचेतन मन का है। मन का काम है—मनन करना। इसे याद रखने का काम करता है सूक्ष्म शरीर का अवचेतन मन। अवचेतन मन की इस क्षमता को हम स्मरण-शक्ति कहते हैं। क्योंकि जो कुछ भी घटित होता है वह सब अवचेतन मन पर अंकित हो जाता है।

अवचेतन मन पर अंकित संस्कार एक जन्म के नहीं होते, बल्कि अनेक जन्मों के होते हैं। वर्तमानकाल में तथा इससे पहले के जीवन में हमने जो विचार किए, जो कर्म किए—वे सब सूक्ष्म शरीर द्वारा अंकित किए जाते रहते हैं। ये अंकित विचार संस्कार के रूप में घनीभूत होकर हमारे चित्त को प्रभावित करते हैं, चित्तवृत्ति का निर्माण करते हैं, जिसका प्रभाव हमारी मनोवृत्ति पर पड़ता है।

इस प्रकार अवचेतन मन के माध्यम से ही पुराने संस्कारों का प्रभाव चेतन मन पर पड़ता है और चेतन मन को नियंत्रित करता है। हमारा चेतन मन अवचेतन मन से प्रभावित होकर ही सोचता है, संकल्प-विकल्प करता है और आचरण करता है।

जब हम अतीत के सुनहरे पृष्ठों का गहराई से अवलोकन करते हैं तो हमें यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रागैतिहासिक काल से ही भारतीय तत्त्वचिंतन दो धाराओं में प्रवाहित है। पहली चिंतन-धारा है आस्तिकवाद की तथा दूसरी चिंतन-धारा है नास्तिकवाद की। नास्तिकवादी आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म आदि में विश्वास नहीं करते, परंतु आस्तिकवादी इन सबको स्वीकार करते हैं।

जैन दर्शन आत्मा की आवृत दशा में ज्ञेय को जानने के दो साधन बताता है—(1) इंद्रिय (2) मन। इंद्रियां पांच हैं। इन पांचों इंद्रियों के अतिरिक्त जो मनन करता है वह मन कहलाता है। कहा भी है—'मनन, मन्यते अनेन वा मनः।'

भगवती सूत्र 13/126 में मन के दो प्रकारों का वर्णन

मिलता है। पहला द्रव्य-मन, दूसरा भाव-मन। द्रव्य-मन अजीव होता है तथा भाव-मन जीव होने के कारण आत्मिक मन भी कहलाता है। जो मनन-चिंतन रूप आत्मा का विचार है—वह भाव-मन कहलाता है, तथा भाव-मन को प्रवृत्त करने के लिए जो बाह्य पुद्गल लिए जाते हैं—वे द्रव्य-मन हैं।

'भिक्षु न्याय कर्णिका' में आचार्य तुलसी ने लिखा है—'सर्वार्थग्राही त्रैकालिक मनः'—मन सारे अर्थों को ग्रहण करने वाला है तथा तीनों कालों को जानने वाला है।

जैन सिद्धांत दीपिका 2/33 में भी मन को सर्वार्थग्राही कहा गया है। इंद्रियां केवल मूर्त द्रव्यों को जानती हैं, परंतु मन मूर्त, अमूर्त तथा तीनों कालों के पर्यायों को जानता है।

न्याय-वैशेषिक मत के अनुसार पांच ज्ञानेंद्रियों के अतिरिक्त एक अंतरिंद्रिय यानी मन की सत्ता को स्वीकार किया गया है। उनका यह मानना है कि जीवात्मा मन के द्वारा ही सुख-दुखादि आंतरिक अवस्थाओं का ज्ञान कर सकता है।

वेदांत दर्शन के 'सर्व वेदांत सार संग्रह 342' में यह उद्धृत किया गया है कि आकाश आदि में विद्यमान पांच सात्त्विक अंश परस्पर मिलकर सबका कारण अंतःकरण के रूप में स्वीकार करते हैं। उन्होंने अंतःकरण को अभौतिक ही माना है। अंतःकरण जब संकल्प-विकल्प करता है तब वह मन कहलाता है। पदार्थ विषयक निश्चय करने के कारण बुद्धि, आत्म चैतन्य की स्थिति में अहंकार तथा अर्थ विषयक चिंतन करने के कारण वह चित्त कहलाता है।

बौद्ध दर्शन के योगचारी मत में मन को स्वीकारते हुए लिखा है कि सब वस्तुओं का श्रेष्ठ उद्गम स्थल है—चित्त अथवा मन। वसुबंधु ने 'अभिधर्म कोश-2' में बताया है कि चित्त, मन और विज्ञान, सब एक ही पर्याय हैं। 'चेतति, मन्यते, विजायते इति मनः'—मन को चित्त इसलिए कहा गया है कि वह पर्यवेक्षण करता है। मन इसलिए कहा कि वह मनन करता है तथा उसे विज्ञान इसलिए कहा गया है, क्योंकि वह परस्पर भेद करता है। वह यह बताता है कि विज्ञान अथवा चित्त से पृथक आत्मा की कोई सत्ता नहीं है। बौद्ध दर्शन के 'द सेंट्रल कंसेप्सन ऑफ बुद्धिज्म' (पृ. 99) में मन के बारे में लिखा है कि चेतना बुद्धि के वर्ग का है। इसका विषय ऐंद्रिक नहीं है। 'बुद्धिष्ट फिलासफी' (पृ. 102) में लिखा है कि जो अभौतिक तथा अदृश्य है—वह मन ही है।

मन क्या है? एक मारवाड़ी कहावत है—

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चोर।
मन रे मते न चालज्यो, पलक-पलक मन ओर।।

मन चंचल है। इस विषय में उत्तराध्ययन सूत्र के 23वें अध्ययन की 55वीं गाथा में केशी स्वामी ने गौतम स्वामी से प्रश्न किया कि—भंते! यह मन एक चंचल घोड़ा है। वह चलते-चलते उन्मार्ग की ओर दौड़ जाता है। कृपा कर फरमाइए, आप उसका निग्रह कैसे करते हैं?

गौतम स्वामी ने केशी के प्रश्न को समाहित करते हुए इसी अध्ययन की 56वीं गाथा में फरमाया—हे केशी! मैंने उस घोड़े को खुला नहीं छोड़ा है। उसकी लगाम मेरे हाथों में है। जिसे मैंने कसकर पकड़ रखा है। वह लगाम है—ज्ञान, बुद्धि और विवेक की। मैंने इन तीनों की सहायता से उस चंचल घोड़े पर काबू पा लिया है।

हमारे मन में यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक है कि मन चंचल क्यों होता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने भी एक पुस्तक लिखी जिसका नाम भी यही रखा—'किसने कहा—मन चंचल है'। हमारा मन चंचल है, इसलिए हमारी इंद्रियां भी चंचल हैं। इंद्रियां चंचल हैं, इसलिए हमारी वृत्तियां भी चंचल हैं। वृत्तियां चंचल हैं, अतः मन चंचल है। इंद्रियां और मन चंचलता का हेतु नहीं, वे तो चंचलता का भोग करती हैं। चंचलता का मूल हेतु है—हमारी वृत्तियां।

जो व्यक्ति इंद्रिय और मन की चंचलता को समाप्त करना चाहता है, उसके लिए यह अपेक्षित है कि वह वृत्तियों का संशोधन करे। 'किरातार्जुनीय' में भी कहा गया है कि—'विचित्र रूपाः खलु चित्तवृत्तयः'—चित्त की वृत्तियां विचित्र रूप वाली होती हैं। ❖

जिस व्यक्ति ने तुम्हें हानि पहुंचाई हो उसके विरोध में एक प्रबल प्रतिकार्य को स्वीकार करने का एक कारण यह कि यदि हमने उसे अनदेखा कर दिया तो यह खतरा है कि वह व्यक्ति अत्यधिक नकारात्मक कार्यों का आदी हो जाएगा और अंततः वह न केवल उस व्यक्ति के पतन का कारण होगा, पर साथ ही साथ यह उसके अपने लिए अत्यंत विनाशकारी होगा। इसलिए एक करुणा जनित या दूसरों को ध्यान में रखते हुए एक प्रबल प्रतिकार्य बहुत आवश्यक है। जब तुम इस प्रकार की अनुभूति से प्रेरित होगे तो ऐसा कठोर कदम उठाने के पीछे दूसरों के प्रति संवेदनशीलता भी तुम्हारी प्रेरणा का एक तत्त्व होगा।

—दलाई लामा

नेतृत्व विकास : कुछ सूत्र

मुनि जयंतकुमार

व्यक्तित्व विकास का एक अंश नेतृत्व क्षमता का विकास भी है। नेतृत्व की चाह सभी में होती है। यह प्रबंधन का एक मुख्य तत्त्व है। नेतृत्व स्वीकार कौन करेगा और कौन नहीं, यह आशंका आमतौर पर हर किसी में रहती है। सफल नेतृत्व के लिए किन बातों की आवश्यकता रहती है, यह जानना भी हर किसी के लिए जरूरी है।

निज पर शासन फिर अनुशासन

गुरुदेवश्री तुलसी ने 'निज पर शासन फिर अनुशासन'—उद्घोष दिया था। सफल नेतृत्व का यह एक सरलतम मंत्र है। जो व्यक्ति दूसरों पर अनुशासन करना चाहता है, उसे पहले स्वयं अपने पर शासन करना आना चाहिए। ऐसा व्यक्ति कभी भी सफल नहीं हो सकता जो उच्छृंखल या अनियंत्रित जीवन जीता है। वह दूसरों को अपने वश में रखना चाहता है, पर ऐसा कभी संभव नहीं हो सकता। सफल नेतृत्व की सबसे बड़ी कसौटी यही है कि व्यक्ति स्वयं को अनुशासन के सांचे में कितना ढालता है? स्वयं का स्वयं पर अनुशासन एक प्रकार से दूसरों के लिए वशीकरण-मंत्र भी कहा जा सकता है।

वही व्यक्ति कुशल नेतृत्व दे सकता है, जिसमें कुछ नया करने का माद्दा होता है। यद्यपि सब पुराना बुरा ही होता है और सारा नया ही अच्छा होता है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। पुराना भी अच्छा होता है और नया भी बुरा हो सकता है। पर, अच्छा नेतृत्व वही व्यक्ति दे सकता है जिसमें अच्छे-बुरे का विवेक होता है। अपने चिंतन के साथ कुछ नया जोड़कर प्रस्तुत करने की क्षमता का विकास कुशल नेतृत्व का अच्छा आधार बन सकता है। जिज्ञासाओं को निरंतर उत्पन्न करने का एक सशक्त माध्यम नयापन या नवाचार ही हो सकता है।

प्रतीक्षा करना सीखें

देखा गया है कि व्यक्ति में धैर्य की बड़ी कमी होती है। वह उस क्षण की प्रतीक्षा करना ही नहीं चाहता जिस क्षण में सफलता का रहस्य छिपा होता है। सफलता के लिए आवश्यक है—धीरज की मनोवृत्ति का विकास। टॉलस्टाय से एक बार पूछा गया कि प्रतीक्षा कब तक करनी चाहिए? उन्होंने उत्तर दिया—'जब तक छलनी में पानी बर्फ न बन जाए।' व्यक्ति में यदि इतना धैर्य होता है तब ही वह दूसरों पर अनुशासन कर सकता है। अधीरता व्यक्ति को कुशल और दक्ष नहीं बना सकती।

जैसा कहें वैसा करें

कुशल नेतृत्व का एक अन्य लक्षण है कि वह जैसा कहता है वैसा ही करके दिखाता है। जब स्वयं की कथनी और करनी में समानता होती है, तभी वह दूसरों के दिलों पर अपनी छाप छोड़ सकता है। कहें कुछ और करें कुछ—यह छवि दूसरों को कभी भी प्रभावित नहीं कर सकती। ऐसा व्यक्ति यदि किसी को कोई कार्य करने का कहता है तो दूसरा उसे उपेक्षित नहीं कर सकता। कार्य की उपेक्षा तभी होती है जब नेतृत्व करने वाला कहता कुछ है और करता कुछ है।

दूरदर्शिता

कुशल नेतृत्व की एक महत्त्वपूर्ण पहचान है—दूरदर्शिता। जब कोई निर्णय लिया जाता है, उससे पहले चिंतन की अपेक्षा रहती है। चिंतनपूर्वक लिया गया निर्णय सफलता की संभावना को पुष्ट करता है। व्यक्ति के अपने अंतः 'विजन' से ही दूरदर्शिता परिलक्षित होती है। जिस व्यक्ति के पास 'विजन' होता है, रचनात्मकता होती है, उसके प्रति दूसरों का ध्यान आकृष्ट होना कोई आश्चर्यजनक नहीं है।

अच्छा श्रोता

कुशल नेतृत्व देने के लिए कहने की अपेक्षा श्रोता बनने की आवश्यकता भी होती है। औरों की बात सुनने का अर्थ है, स्वयं को पथ प्रदर्शक के रूप में प्रस्तुत करना। जो दूसरों को सुनना नहीं चाहते, केवल अपनी बात ही रखने का प्रयत्न करते हैं, वे कभी दूसरों को अपने विश्वास में नहीं ले सकते। इसलिए नेतृत्व की क्षमता के लिए श्रोता होना भी जरूरी है।

व्यवहार की मधुरता

दो व्यक्तियों को परस्पर जोड़ने का सेतु व्यवहार की मधुरता है। सुमधुर और सदाशयी व्यवहार टूटे हुए दिलों को जोड़ देता है। इसी तरह दूसरे प्रकार का व्यवहार दिलों में दरार भी डाल देता है। आकर्षक व्यवहार ही व्यक्ति को आकर्षक बनाता है। जो व्यक्ति कठिन परिस्थितियों में भी दूसरों का हमराही बना रहता है, समस्याओं के समाधान खोजता रहता है और आग्रहमुक्त होकर सत्य को पाने का प्रयत्न करता है—वही व्यक्ति कुशल नेतृत्व दे सकता है।

नया करने का संकल्प

वही व्यक्ति कुशल नेतृत्व दे सकता है, जिसमें कुछ नया करने का माद्दा होता है। यद्यपि सब पुराना बुरा ही होता है और सारा नया ही अच्छा होता है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। पुराना भी अच्छा होता है और नया भी बुरा हो सकता है। पर, अच्छा नेतृत्व वही व्यक्ति दे सकता है जिसमें अच्छे-बुरे का विवेक होता है। अपने चिंतन के साथ कुछ नया जोड़कर प्रस्तुत करने की क्षमता का विकास कुशल नेतृत्व का अच्छा आधार बन सकता है। जिज्ञासाओं को निरंतर उत्पन्न करने का एक सशक्त माध्यम नयापन या नवाचार ही हो सकता है।

क्षमता के अनुसार कार्य-विभाजन

नेतृत्व करने वाले व्यक्ति में यह दक्षता होनी चाहिए कि वह किस व्यक्ति से कौन-सा कार्य संपादित करवाए। कार्य का विभाजन और संयोजन सदैव क्षमता के अनुसार ही होता है। कुशल नेतृत्वकर्ता के लिए जरूरी है कि उसे अपने सभी सहकर्मियों की क्षमताओं का पूरा ज्ञान हो। तभी कार्य-विभाजन का दायित्व कुशलतापूर्वक संभव हो सकता है। क्षमता तथा रुचि के अनुसार कार्य का विभाजन होता है तो उससे कार्य का सम्यक् निष्पादन भी हो जाता है। नेतृत्व करने वाले व्यक्ति की कुशलता इसी से प्रकट होती है।

प्रोत्साहन

किसी कार्य को अगर कोई व्यक्ति रचनात्मकता-पूर्वक संपन्न करता है तो उस व्यक्ति को प्रोत्साहित करना भी नहीं भूलना चाहिए। समय-समय पर प्रेरित-प्रोत्साहित करते रहना कुशल नेतृत्व का ही सबल अंग है। दूसरे लोग भी इससे अपने श्रम का नियोजन इस तरह से करेंगे कि वे भी सफलता हासिल कर सकें। व्यक्ति आगे भी और ज्यादा उत्साह से कार्य को संपादित करेगा—यह उचित प्रोत्साहन पर ही अवलंबित है। बिना भेदभाव के योग्य व्यक्ति को प्रोत्साहित करने से नेतृत्व पर कभी भी कोई प्रश्नचिह्न नहीं लग सकता।

व्यक्तिगत संपर्क

कुशल नेतृत्वकर्ता का दायित्व है कि वह अपने सहकर्मियों के लिए व्यक्तिगत संपर्क को भी स्थान दे। व्यक्तिगत संपर्क से मधुर संबंधों की परंपरा कायम होती है। हर व्यक्ति की कुछ व्यक्तिगत समस्याएं होती हैं, उन्हें व्यक्तिगत स्तर पर ही समाहित किया जा सकता है। ऐसा करना सफल नेतृत्व का सूचक है।

जुझारूपन

कुशल नेतृत्व के लिए संघर्षों से मुकाबला करना भी अपेक्षित है। जो संघर्षों को चीर कर आगे बढ़ जाता है, वही जीवन में कुछ कर सकता है। विकास के लिए ऐसा करना जरूरी भी होता है। अग्नि में तप कर ही कुंदन में निखार आता है। उसी तरह से संघर्षों की भट्टी में तप कर व्यक्ति अपनी नेतृत्व-क्षमता को उजागर कर सकता है। ❖

सुखस्य मूलं धर्मः

श्रीमन्नारायण

इन दिनों हमारे देश में भौतिकवाद का बड़ा बोलबाला है। धन कमाने के लिए नीति व न्याय की बलि करने में किसी को हिचक नहीं रही है। सभी को ऊंचे पद पाने की लालसा और राजनीतिक सत्ता हासिल करने की तमन्ना हो, यह समझा जा सकता है किंतु, जिस तरह भ्रष्टाचार तेजी से फैल रहा है और 'सज्जन' लोग भी बेईमानी के चक्कर में फंस जाते हैं, यह सचमुच गंभीर चिंता का विषय है। भारत एक बहुत प्राचीन देश है, जहां सदाचार व ईमानदारी के आदर्श सदा प्रशंसनीय रहे हैं। एक जमाना था, जब भारत के व्यापारी करोड़ों का सौदा सिर्फ मौखिक ढंग से करते थे और कभी एक रुपए का भी फर्क नहीं पड़ता था। पांचवीं सदी में चीन के यात्री हुएन-सांग ने इस प्रकार की स्थिति का वर्णन किया है। लेकिन, आज तो लिखित करारों से मुकरा जाता है। अब तो कचहरियों में 'एफीडेविटों' की सचाई का भी कोई मूल्य नहीं रह गया है। हमारे राजनीतिक नेता आज प्रेस के सामने एक बयान देते हैं और यदि उनके प्रकाशित विचार उपयोगी प्रतीत न हुए तो दूसरे दिन ही अपने दिए गए वक्तव्य को इंकार करने में कोई संकोच महसूस नहीं होता। बेचारे पत्रकारों की अवस्था बड़ी सोचनीय बन गई है। उनसे हमारी पूरी हमदर्दी है।

इस समय हम 'श्रेयस्' और 'प्रेयस्' के बीच विवेक रखने में असमर्थ हो रहे हैं। इसीलिए चारों तरफ इतना दुराचार फैल रहा है। आज अमरीका दुनिया का सबसे अधिक संपन्न राष्ट्र है, लेकिन क्या वहां शांति है? क्या अमरीकी जनता संतोष व तृप्ति का अनुभव करती है? राष्ट्रपति निक्सन ने एक बार बड़े दुख के साथ कहा था— 'हम इस वक्त धन-वैभव के शिखर पर हैं, किंतु साथ ही हमारे देश में हिंसा और जुर्म चरम सीमा पर पहुंच गए हैं।' इंग्लैंड व यूरोप के देशों का भी कम-ज्यादा यही हाल है। यदि भारत इन्हीं देशों का अनुकरण करेगा तो कहीं का न रहेगा। उसे तो संसार को एक नई दिशा देनी है, जिसमें भौतिक व आध्यात्मिक मूल्यों का सुरुचिपूर्ण समन्वय हो।

आखिर यह सब क्यों हो रहा है? सही बात तो यह है कि हम अपने देश की प्राचीन संस्कृति को बिलकुल भूलते जा रहे हैं। यह संस्कृति केवल दर्शनशास्त्र पर आधारित नहीं रही, उसके पीछे सदियों का जीवन-अनुभव रहा है। कठोपनिषद् में जब यमराज ने नचिकेता को आत्मतत्त्व के बजाय मृत्युलोक के सभी दुर्लभ भोग मांगने के लिए कहा, तब नचिकेता ने नम्रभाव से उत्तर दिया :

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा।

अर्थात्, 'धन से मनुष्य की तृप्ति कभी नहीं हो सकती। जब हमने आपके दर्शन पा लिए तो धन को तो पा ही लिया।'

जब यमराज ने देख लिया कि नचिकेता निर्भीक, वैराग्यवान् और दृढ़-निश्चयी है तो उन्होंने उसे जीवन-साधना का मूल मंत्र दे दिया :

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः
तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।

श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते।
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।।

'श्रेयस्' यानी आत्मा का कल्याण और 'प्रेयस्' अर्थात् लौकिक सुख—दोनों ही मनुष्य के सामने खड़े रहते हैं। सुधी व्यक्ति दोनों की उचित परीक्षा करके उनका चुनाव विवेकपूर्वक करते हैं। धीर पुरुष प्रेयस् की अपेक्षा श्रेयस् को ही चुनते हैं। मूर्ख लोग प्रेयस् को योगक्षेम का साधन समझकर अपनाते हैं।

इस समय हम 'श्रेयस्' और 'प्रेयस्' के बीच विवेक रखने में असमर्थ हो रहे हैं। इसीलिए चारों तरफ इतना दुराचार फैल रहा है। आज अमरीका दुनिया का सबसे अधिक संपन्न राष्ट्र है, लेकिन क्या वहां शांति है? क्या अमरीकी जनता संतोष व तृप्ति का अनुभव करती है? राष्ट्रपति निक्सन ने एक बार बड़े दुख के साथ कहा था— 'हम इस वक्त धन-वैभव के शिखर पर हैं, किंतु साथ ही हमारे देश में हिंसा और जुर्म चरम सीमा पर पहुंच गए हैं।' इंग्लैंड व यूरोप के देशों का भी कम-ज्यादा यही हाल है। यदि भारत इन्हीं देशों का अनुकरण करेगा तो कहीं का न रहेगा। उसे तो संसार को एक नई दिशा देनी है, जिसमें भौतिक व आध्यात्मिक मूल्यों का सुरुचिपूर्ण समन्वय हो।

हमारे देश की गरीबी व बेकारी दूर करना नितांत आवश्यक है। जो काम मांगे, उसे किसी-न-किसी तरह का उत्पादक कार्य देना शासन का प्राथमिक कर्तव्य है। गरीब और अमीर का अंतर भी काफी कम करना जरूरी है। लेकिन, जैसा गांधीजी कहा करते थे कि 'जीविका' एक वस्तु है और 'जीवन' दूसरी। आजीविका के लिए हरेक को अन्न, वस्त्र और आवास की आवश्यकता है और वह पूरी होनी चाहिए, किंतु 'जीवन' के हेतु हमें नैतिक व आध्यात्मिक गुणों का विकास करना होगा। केवल शारीरिक सुविधाओं की वृद्धि से राष्ट्र सुखी नहीं बन सकेगा।

कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में व्यावहारिक सिद्धांतों का विवेचन किया है। उसने अपने अनुभव का सार लिखते हुए कहा है, 'सुखस्य मूलं धर्मः'। 'सुखस्य मूलं धनः' नहीं कहा, और धर्म का सार समझाते हुए इंद्रिय-निग्रह पर बहुत जोर दिया है। अपनी वासनाओं को संयत किए बिना हम अपने धर्म का समुचित पालन नहीं कर सकते हैं। कौटिल्य ने लिखा है कि कोई राजा भले चतुरंगिणी सेना का स्वामी हो, लेकिन यदि वह इंद्रियों का दास है तो विनाश को प्राप्त होगा।

इन्द्रियवशवर्ती चतुरंगवानपि विनश्यति।

यह वाक्य तो सभी सरकारी संस्थाओं व मंत्रालयों के दरवाजों पर लिखने योग्य है।

हम भूल जाते हैं कि हमारा स्थूल शरीर ही सब-कुछ नहीं है। वह तो हमारी आत्मा का बाह्य मंदिर है। उससे अधिक सूक्ष्म और भी कई शरीर हैं, जिन्हें हम इन नेत्रों से देख नहीं सकते। धर्मशास्त्रों में अन्नमय कोष के अलावा प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनंदमय कोषों का जिक्र किया गया है। 'हम' इन सभी शरीरों से भिन्न हैं। जीवात्मा तो मन और बुद्धि के भी परे है, वह परब्रह्म का ही अंश है, चिनगारी है। हम जितने शारीरिक भोग-विलासों में उलझते जाते हैं उतनी ही हमारी आत्मिक शक्ति क्षीण होती जाती है। जरा शराबियों को देखिए। जितनी अधिक शराब पीते जाते हैं, उतनी ही उनकी प्यास बढ़ती जाती है। पहले वे शराब को पीते हैं, फिर शराब, शराब को पीती है, और अंत में शराब आदमी को ही पीने लगती है। यही बात अन्य व्यसनों के संबंध में लागू होती है। आजकल लॉटरियों के नाम से एक नए तरह का जुआ चल रहा है, जिसमें ज्यादातर गरीब लोग तबाह हो रहे हैं, और मजा यह है कि शराब व लाटरी की स्कीमें पंचवर्षीय-योजनाओं के लिए आवश्यक धन-साधन जुटाने के लिए बनाई गई बताते हैं। जनता को, खासकर पिछड़े हुए वर्गों को, सुरा पिला-पिला कर सरकारी आमदनी बढ़ाने की कोशिश हो रही है, ताकि जन-कल्याण की योजनाओं पर ज्यादा धन खर्च किया जा सके! पहले लोगों का स्वास्थ्य बरबाद करना और फिर उनके विकास के हेतु कार्यक्रम बनाना—यह कैसा द्राविड़ी प्राणायाम है?

कौटिल्य ने 'धर्म' को सुख का स्रोत बताया है, लेकिन यह 'धर्म' क्या है? इस शब्द का अंग्रेजी में कोई ठीक पर्यायवाची शब्द नहीं है। उसे न 'रिलीजन' कह सकते हैं और न 'ड्यूटी'। वह आध्यात्मिकता का द्योतक है, जिसका सदाचार एक प्रतीक है। सदाचार का सत्त्व परोपकार में है। इसीलिए ऋषियों ने सूत्र के रूप में घोषित

किया है :

संक्षेपात्कथ्यते धर्मो जनाः! किं विस्तरेण वः?
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

'हे मनुष्यो! तुमसे मैं धर्म का सार संक्षेप में कह देता हूं, विस्तार करने से क्या लाभ? परोपकार से पुण्य मिलता है और दूसरों को कष्ट पहुंचाने से पाप।' और यह भी कहा है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

'धर्म का निचोड़ सुनो, और सुनकर हृदय में रख लो। जो वस्तु अपने लिए अनुकूल नहीं, उसका व्यवहार दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिए।'

तुलसीदासजी ने इन्हीं विचारों को सरल भाषा में रख दिया है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।

और एक कवि ने सीधे-सीधे शब्दों में एक बहुत ऊंचा आदर्श पेश किया है—

जो तोको कांटा बोये, ताहि बोय तू फूल।
तो को फूल के फूल है, वाको है तिरसूल।।

'अमर आशा' में मेरा भी एक दोहा है :

जैसा तुम चाहो करें सब तुमसे व्यवहार।
वैसा ही व्यवहार तुम करो सभी से यार।।

वर्तमानकाल में सारी दुनिया में हिंसा की ज्वालाएं फैलती जा रही है। जंगलों के अलावा आसमान में भी 'गुरेलाओं' का उत्पात आए दिन बढ़ रहा है। 'हाईजेकिंग' की घटनाएं बार-बार समाचार-पत्रों में पढ़ने को मिलती हैं। 'क्रांतिकारी' लोग विदेशी राजनयिकों को जबरन पकड़ लेते हैं और अगर वहां की सरकार ने उनके कुछ कैदी-साथियों को रिहा न किया तो उस 'डिप्लोमैट' की क्रूरता से हत्या कर देते हैं।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह सब होते हुए भी दुनिया में बुनियादी तत्त्व प्रेम व करुणा ही है, विद्वेष व हिंसा नहीं। संसार-भर में परिवार ही समाज की नींव व आधार माना जाता है जिसमें माताएं अपने बच्चों को स्वाभाविक ढंग से प्यार करती हैं और अन्य कुटुंबी जन एक-दूसरे को सहारा देना अपना धर्म समझते हैं। जब कभी देश पर प्राकृतिक विपत्तियां आती हैं तो जनता आपसी सेवा व सहकार्य का उज्ज्वल उदाहरण पेश करती है। देश के जिन किन्हीं हिस्सों में जब भी कोई प्रकोप आया है, उस समय लोगों ने जिस तरह एक-दूसरे की मदद की, वह सचमुच सराहनीय है। इधर-उधर हिंसक वारदातों के बावजूद समाज का प्राण अहिंसा ही है और रहेगी। मानवता का मूल तत्त्व मुहब्बत है, प्राणीमात्र की सेवा और रक्षा है। 'अहिंसा परमो धर्मः' कोई नया आदर्श नहीं है, वह तो अनादिकाल से मनुष्य की प्रेरणा का स्रोत रहा है और अनंतकाल तक बना रहेगा।

महाभारत के अंत में 'भारत-सावित्री' नाम के कुछ श्लोक हैं जिन्हें पढ़कर मेरे मन पर बहुत गहरा असर हुआ। कवि-शिरोमणि वेदव्यास हाथ उठाकर ऊंचे स्वर में मनुष्य-मात्र से आग्रहपूर्वक कहते हैं :

न जातु कामान् न भयान् न लोभात्।
धर्म त्यजेज् जीवितस्यापि हेतोः।।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये।
जीवो नित्यो हेतुर् अस्य त्वनित्यः।।

'अपनी किसी इच्छा की तृप्ति के लिए या भय से, लोभ से या प्राणों की रक्षा के विचार से भी धर्म नहीं त्यागना चाहिए, क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुख अनित्य हैं, आत्मा नित्य है, पर उसे बंधन में डालने वाला शरीर नश्वर है।'

ये पंक्तियां तो स्वर्ण-अक्षरों में लिखवा कर हम सभी की आंखों के सामने लगी रहनी चाहिए न? पांच हजार वर्ष पहले महाभारत-काल में उनका जो महत्त्व था, वैसा आज भी है, और शायद उससे भी अधिक।

अकसर ख्याल किया जाता है कि पंडित जवाहरलाल नेहरू धर्म के नाम से चिढ़ते थे। यह सही है कि वे धार्मिक रीति-रिवाजों व कर्मकांड को पसंद नहीं करते थे। इन संकुचित व अंधविश्वासों के कारण मजहब के नाम पर दुनिया में बहुत-से अन्याय व अत्याचार भी होते रहे हैं, किंतु धर्म के आंतरिक अर्थ को पंडितजी बड़ा महत्त्व देते थे। अध्यात्म की अहमियत को वे पूरी तरह समझते थे। अपने अवसान के दो दिन पहले ही देहरादून में उन्होंने 'भारतीय संयोजन में समाजवाद' नामक मेरी

पुस्तक की प्रस्तावना लिखी थी। यह उनके विचारों की आखिरी अभिव्यक्ति साबित हुई। उसमें उनका यह वाक्य बहुत सारगर्भित है :

But, in doing so, we must not forget that the essential objective to be aimed at is the quality of the individual and the concept of **dharma** underlying it.

आधुनिक विज्ञान व टेक्नोलॉजी का लाभ उठाकर हमें देश का उत्पादन बढ़ाने का पूरा प्रयत्न अवश्य करना चाहिए; किंतु हम यह न भूलें कि हमारा बुनियादी उद्देश्य व्यक्ति का गुण-विकास करना है, जिसकी तह में धर्म की भावना निहित है। कौटिल्य के 'सुखस्य मूलं धर्मः' का आज के जमाने में यही अर्थ समझा जाएगा।

❖

ज्ञानबोध और मनोमय मानव

पृष्ठ 20 का शेष

अतः ज्ञानबोध में कोई आध्यात्मिकता नहीं है। विशिष्ट तत्त्व के रूप में भी नहीं। मन (मस्तिष्क) पूर्ण रूप से प्रकृति के यांत्रिक नियमों से संचालित होता है।

सारांश के रूप में : संवेदन शारीरिक घटना है। वह कार्य-कारणता के रूप में जुड़ी रहती है। कार्य-कारणता का रूप अनंत व निरंतर है। उसमें कोई व्यवधान नहीं है और न सोद्देश्यता। सारी वेदना विश्लेषण के रूप में स्पर्शजन्य है। जानना और प्रत्यक्ष हमेशा शारीरिक होता है।

स्पर्श का यह कार्यकारी संबंध हमेशा शारीरिक (भौतिक) रहता है। तार्किक नहीं। यही कारण है कि व्यक्ति की सोच हमेशा तर्कसंगत रहती है। मनुष्य के बाह्य जगत के संबंध इसी कारण संवेदन और उसकी कारणता के बीच में बने रहते हैं। वे प्रकृति में स्वभावगत नियमों से निर्धारित रहते हैं। संवेदन और मस्तिष्क (मन) वाली कड़ी स्नायविक रूप लिए रहती है। यहां हमारा परिचय प्रक्रम से होता है। यह प्रक्रिया भौतिक नियमों के अंतर्गत विद्युत रासायनिक प्रक्रिया है। प्रत्यक्ष के बारे में भी कोई रहस्य नहीं है। संवेदन और प्रत्यक्ष सतत घटनाएं हैं। इस क्रम में शरीर भी शामिल है। यहीं तो मन का बाह्य-जगत से सीधा संबंध बनता है। यह संबंध कोई दो भिन्न गुणों वाला नहीं है। ज्ञान स्वयं सातत्य का सीधा परिणाम है। उसकी निरंतरता ज्ञानबोध के रूप में भौतिक रहती है।

ज्ञानबोध बाह्य जगत के संदेशों की सुषुप्त प्राप्ति नहीं है। संदेश उद्दीपन है। ज्ञानबोध उसी क्रिया का परिणाम है। प्रत्यक्ष एक स्वतः अवयवी प्रतिक्रिया है। ज्ञानबोध सोच की एक व्याख्यात्मक प्रस्तुति है। समझ (ज्ञान) निरुद्देश्य बेतरतीब संदेशों का ढेर मात्र नहीं है। यह एक वस्तु से प्राप्त होने वाला संस्थापित निर्णय है। प्रत्यक्ष से हमें वस्तुओं के अस्तित्व का पता चलता है। ज्ञानबोध प्रत्यक्ष किए गए आंकड़ों की अंतर्दृष्टि है। उसकी विकसित अवयवी की प्रतिक्रिया है—विकसित ज्ञान के रूप में। वह केवल पर्यावरण से प्राप्त होने वाला गुण ही नहीं है। वह समंजस रूप में भौतिक वास्तविकता का मानसिक चित्र है।

अनुभव ज्ञान की नींव है। परंतु, जानना विशुद्ध अनुभवजनित क्रिया नहीं है। वह प्रत्यक्ष तथ्यों का चयनित, व्याख्यात्मक, सुव्यवस्थापित क्रमिक रूप है। संवेदन आंकड़ा है—एक मनोमयता के रूप में। जगत की सुसंगत संवेदिता में मन केवल संदेशों तक ही सीमित नहीं है, केवल चेतना में दिया गया संवेदन भी नहीं है। जैसा कि मुहावरा है—मस्तिष्क हाथ-पैर से काम करता है—क्रिया के दूसरे अवयवों से। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान, बाह्य-स्रोतों से प्राप्त संवेदन शाश्वत और निरंतर होने वाला प्रत्यक्ष है। इसके कई रूप हैं। दैनिक जीवन के कार्य, प्रायोजित प्रयोग, बौद्धिक अवलोकन, स्मृति, खयाल, चेतनता का निर्धारण ही मनुष्य का संपूर्ण विवेकी व्यवहार है। बाह्य जगत की प्रतीति हमारे विवेक में रहती है। मस्तिष्क, बाह्य जगत के उपक्रमों से जुड़ा रहता है। इस तरह मस्तिष्क उपक्रमों के सहारे भौतिक कार्यों से जुड़ा रहता है। मानसिक क्रिया स्नायविक प्रक्रम है। मन समूचे विश्व के कार्य-कारण रूप से जुड़ा है। वह शरीर में होने वाले कार्यों से सीमाबद्ध नहीं है। घटनाओं पर प्रतिक्रिया करते हुए मन बाह्य जगत तक धारणात्मक रूप से पहुंचता है जो भौतिक कार्य-कारणता को जानने का एक उपक्रम है। प्रत्यक्ष विशुद्ध रूप से अनुभवजनित है। धारणा संश्लेषित है। प्रत्यक्ष स्वतः है। धारणा सूझबूझ है। विश्लेषणात्मक है—परीक्षित, मनोमयी और तार्किक रूप से नियंत्रित है। नियमबद्ध भौतिक प्रकृति से उत्पन्न मानव इसी कारण मनोमय है।

❖

पाषाण पुरुष

प्रदीप पंत

भद्रलोक के राजा समुद्रसेन अपने समय के लोकप्रिय राजाओं में गिने जाते रहे हैं। पहाड़ी प्रदेश के पास और नदी के किनारे बसी उनकी राजधानी में लोगों को किसी चीज की कमी नहीं थी। सभी सुख-चैन से रहते थे।

समय शांति से बीत रहा था कि एक दिन पड़ोस के राज्य से एक संदेशवाहक दरबार में आया। उसने झुककर राजा को प्रणाम किया।

'कहो, क्या समाचार है, संदेशवाहक?'—राजा ने पूछा।

संदेशवाहक बोला—'महाराज! हमारे राज्य पर बहुत बड़ी विपत्ति आ गई है। पहाड़ियां टूटकर गिर पड़ी हैं। सैकड़ों लोग उनमें दब गए हैं। पर्वतराज आपसे तुरंत सहायता चाहते हैं।'

'हम अवश्य सहायता करेंगे।'—समुद्रसेन बोले।

उन्होंने मंत्री को आदेश दिया—'तुरंत सहायता दल, दवाएं और अन्य सामग्री पड़ोसी राज्य में भिजवाओ।'

'यह देखो!'—पाषाण पुरुष ने जैसे उसकी बात ही नहीं सुनी हो। बर्फ की एक सपाट शिला के सामने उसने अपनी हथेली घुमाई। वहां एक चित्र-सा उभर आया। जाता-जाता रामेश्वर रुक गया। यह चित्र भद्रलोक के महल का था, जहां नागेश्वर रंगरेलियों में डूबा हुआ दिखाई दे रहा था। रामेश्वर ने यह दृश्य देखा, तो वह चकित रह गया। फिर पाषाण पुरुष ने बगल में ही बर्फ की एक अन्य शिला के आगे हथेली घुमाई। भद्रलोक की सीमा पर बहती नदी उस पर उभर आई। नदी के तट पर अनेक शस्त्रधारी सैनिक खड़े थे।

बालकथा

राजाज्ञा पाकर मंत्री आवश्यक तैयारियों में जुट गया। समुद्रसेन दरबार से उठकर महल में पहुंचे। पहले से ही उपस्थित बड़े बेटे रामेश्वरसेन ने विनती की—'सहायता दल के साथ मैं भी जाना चाहता हूं पिताजी!'

समुद्रसेन के दो पुत्र थे। रामेश्वरसेन का स्वभाव छोटे पुत्र नागेश्वरसेन से एकदम भिन्न था। रामेश्वर परोपकारी और दयालु प्रकृति का था। जबकि नागेश्वर स्वार्थी और ईर्ष्यालु। रामेश्वर की बात को सुन राजा किंचित सोच में पड़ गए।

राजा ने कुछ सोचकर अनुमति दे दी। सहायता दल के साथ रामेश्वरसेन भी पड़ोसी राज्य में सहायता दल के साथ चले गए। जाते ही पूरा दल सहायता के काम में जुट गया।

दिन बीते, सप्ताह बीते और माह भी बीतने लगे। दुर्घटना इतनी बड़ी थी कि रामेश्वर को भद्रलोक लौटने और राजा समुद्रसेन को सूचना देने की फुर्सत ही नहीं

मिली। पूरा दल दिन-रात घायलों की देखभाल और पीड़ितों की सेवा में लगा रहता। रामेश्वरसेन भी पूरे मनोयोग से सहायता-कार्यों में मदद करते।

एक दिन जैसे ही रात बीते रामेश्वर अपने शिविर में लौटे कि सुंदर वस्त्र पहने एक व्यक्ति उसके सामने आकर खड़ा हो गया। उसकी देह तो मनुष्यों जैसी थी, लेकिन चेहरा पत्थर जैसा। उसने रामेश्वर से कहा—'राजकुमार, तुम यहां सहायता कार्य में लगे हो, लेकिन भद्रलोक में क्या-कुछ हो गया है, तुम्हें पता है?'

'नहीं।'—रामेश्वर ने कहा। तभी उसकी दृष्टि सामने खड़े पुरुष पर पड़ी। पत्थर जैसे चेहरे वाले उस व्यक्ति को देख, वह पहले तो थोड़ा घबराया, किंतु शीघ्र ही संभलते हुए बोला—'आप कौन हैं? क्या कहना चाहते हैं?'

'मुझे तुम पाषाण पुरुष कह सकते हो।'—वह व्यक्ति बोला—'तुम्हारे पिता की मृत्यु हो गई है।'

'क्या?'—एकदम चौंकते हुए राजकुमार रामेश्वरसेन ने कहा। फिर रो पड़ा। बात कुछ इस ढंग से कही गई थी कि उसे उस पर विश्वास हो गया था।

जब रामेश्वर शांत हुआ तो पाषाण पुरुष ने कहा—'इतना ही नहीं, पिता की मृत्यु के बाद जो राज-सिंहासन तुम्हें मिलना चाहिए था, तुम्हारा छोटा भाई नागेश्वर उस पर जबरदस्ती बैठ गया है।'—कह कर पाषाण पुरुष ध्यान से रामेश्वर का चेहरा देखने लगा।

रामेश्वर पर उसकी दूसरी बात का कुछ असर नहीं पड़ा। उसने कहा—'मेरे वहां न रहने पर ही नागेश्वर गद्दी पर बैठा होगा। पिताजी के न रहने पर गद्दी सूनी तो नहीं रह सकती थी....!'

इतना कह कर वह शिविर में जाने लगा। पाषाण पुरुष ने उसे रोकते हुए फिर कहा—'तुम्हारे छोटे भाई के राज्य में क्या हो रहा है, तुम्हें पता है?'

'नहीं।'—रामेश्वर ने कहा—'नागेश्वर जो भी करेगा, ठीक ही करेगा।' फिर उसने पाषाण पुरुष से कहा—'अब आप जाइए। मुझे कुछ देर विश्राम करके पहाड़ी के उस पार सहायता पहुंचानी है।'

'यह देखो!'—पाषाण पुरुष ने जैसे उसकी बात ही नहीं सुनी हो। बर्फ की एक सपाट शिला के सामने उसने अपनी हथेली घुमाई। वहां एक चित्र-सा उभर आया। जाता-जाता रामेश्वर रुक गया। यह चित्र भद्रलोक के महल का था, जहां नागेश्वर रंगरेलियों में डूबा हुआ दिखाई दे रहा था। रामेश्वर ने यह दृश्य देखा, तो वह चकित रह गया। फिर पाषाण पुरुष ने बगल में ही बर्फ की एक अन्य शिला के आगे हथेली घुमाई। भद्रलोक की सीमा पर बहती नदी उस पर उभर आई। नदी के तट पर अनेक शस्त्रधारी सैनिक खड़े थे।

'यह शत्रु सेना है, जो भद्रलोक पर हमला करने जा रहे हैं।'—पाषाण पुरुष ने कहा।

'ओह!'—रामेश्वर के मुंह से निकला। उसने पाषाण पुरुष की ओर देखते हुए पूछा—'तो फिर अब किया क्या जाए? पिताजी रहे नहीं और मैं यहां लोगों को मौत के मुंह में जाते देख, छोड़ नहीं सकता।'—इतना कह वह पाषाण पुरुष की ओर देखने लगा।

'मेरी मानो, भद्रलोक चले जाओ। वहां जाकर अपने राज-सिंहासन पर बैठो। शत्रु से भद्रलोक की रक्षा करो।'

'मुझे सिंहासन से कोई मोह नहीं।'—रामेश्वर ने कहा—'किंतु मैं नहीं चाहता कि मेरा राज्य शत्रुओं के कब्जे में आ जाए। मगर यहां....'

सहसा पाषाण पुरुष के मस्तक से पसीना चूने लगा।—'ठीक है, तुम यहां कार्य करते रहो। यहां भी तुम सेवा में ही जुटे हुए हो। मैं ही समस्या का कोई हल ढूंढ़ता हूं।' पाषाण पुरुष बोला।

इतना कह कर पाषाण पुरुष एकाएक गायब हो गया। कुछ ही देर बाद वह नागेश्वर के रंगमहल में था। 'कौन हो तुम?'—पाषाण पुरुष को देख नागेश्वर ने घबरा कर पूछा।

'यह तुम्हें बाद में बताऊंगा।' पाषाण पुरुष ने कहा—'पहले मेरी बात सुनो। तुम पर बहुत बड़ी विपत्ति आने वाली है।'

नागेश्वर कुछ कहता, इससे पहले ही पाषाण पुरुष ने दीवार के सामने अपनी हथेली घुमाई। दीवार पर एक चित्र-सा उभरा। उसमें रामेश्वर घायल और परेशान लोगों की सहायता के काम में लगा नजर आ रहा था।

चित्र देखकर कुछ गुस्से में नागेश्वर बोला—'यह विपत्ति मेरी कहां है? रामेश्वर को यही पसंद है। वह यही करता रहे। इस राज्य से अब उसका रिश्ता ही क्या है?'

'एक ओर बड़ा भाई लोगों की सहायता कर रहा है। दूसरी ओर तुमने यह उचित ही नहीं समझा कि पिता की मृत्यु की सूचना उसे भिजवाते। तुम्हें डर था कि कहीं युवराज होने के नाते राज-सिंहासन पर वही न बैठ जाए।'—पाषाण पुरुष ने कुछ ऊंची और क्रुद्ध आवाज में कहा।

नागेश्वर तिलमिला उठा। पाषाण पुरुष को पकड़ने के लिए वह सैनिकों को पुकारने ही वाला था कि पाषाण पुरुष ने एक अन्य दीवार के सामने हथेली घुमा दी। नदी के उस पार खड़ी सेना का दृश्य उभर आया।

'यह क्या!'—सेना को देखकर नागेश्वर सहम गया। 'किसकी सेना है? यह क्यों जमा है नदी पर?'

'शत्रु की, जो तुम्हें रंगरेलियां मनाते देख भद्रलोक पर कब्जा कर लेना चाहते हैं।'

सुनते ही नागेश्वर बुरी तरह घबरा उठा। वह फटी-फटी आंखों से पाषाण पुरुष की ओर देखने लगा। पाषाण पुरुष अट्टहास करते हुए बोला—'तुमने अपने बड़े भाई के सिंहासन पर कब्जा करके बहुत बुरा किया। नागेश्वर....!'

नागेश्वर ने धीमे स्वर में कहा—'पिताजी की मृत्यु हो गई। भैया यहां थे नहीं, ऐसी दशा में मुझ पर लालच सवार हो गया था।'—कहते-कहते नागेश्वर की नजरें नदी पर बने पुल की ओर बढ़ती शत्रु की सेना पर टिक गईं। उसके मुंह से फिर निकला—'अब क्या होगा? देखो! देखो! वे बढ़े चले आ रहे हैं। कुछ करो! कुछ करो! मैं तो समझता था, राज-सिंहासन तो सुख की खान है। मगर-मगर....'

'तुमने जो कुछ किया, उसे देखते हुए तो तुम्हारे लिए मुझे कुछ नहीं करना चाहिए। फिर भी करूंगा, क्योंकि तुम्हारा परोपकारी भाई यह चाहता है। भद्रलोक की जनता की रक्षा के लिए मैं कुछ-न-कुछ जरूर करूंगा।'—पाषाण पुरुष बोला।

वह कुछ क्षण रुका। फिर उसने अपनी एक हथेली को कसकर मसला। नागेश्वर ने देखा कि इसी के साथ नदी पर बने पुल पर जोरों का धमाका हुआ। वह टूट-कर टुकड़े-टुकड़े हो गया।

लंबी सांस ले पाषाण पुरुष बोला—'अब शत्रु की सेना आगे नहीं बढ़ सकेगी। मेरा काम समाप्त हुआ। मैं जाता हूं।'

'ठहरिए!'—अचानक नागेश्वर बोला—'मैं आपके साथ चलना चाहता हूं। इस सिंहासन पर सचमुच मेरे बड़े भाई का ही अधिकार है।'

वह फिर बड़बड़ाया—'उफ! मैं कितना स्वार्थी हूं। बड़े भाई चाहते, तो इतने समर्थ पुरुष को मेरा वध करने भी भेज सकते थे।.... मगर भेजा उन्होंने इस राज्य की रक्षा करने ही।'

पाषाण पुरुष के साथ नागेश्वर नंगे पैर ही दूसरे राज्य की ओर चल पड़ा। कुछ ही देर में दोनों वहां पहुंच गए, जहां रामेश्वर सहायता कार्य करने में लगा हुआ था। पहुंचते ही नागेश्वर अपने बड़े भाई के चरणों में गिर पड़ा। वह फफककर रोने लगा। रामेश्वर सब-कुछ समझ गया था। उसने नागेश्वर को गले से लगा लिया। फिर पाषाण पुरुष से पूछा—'क्या मैं जान सकता हूं कि हम दोनों के प्रति इतनी चिंता दिखाने वाले महापुरुष आप कौन हैं?'

'मैं पर्वत देवता हूं। इन्हीं आस-पास के पर्वतों का देवता!'—पाषाण पुरुष ने कहा। किंतु इससे पहले कि दोनों भाई उसका आभार प्रकट करें, पाषाण पुरुष उनके बीच से सहसा गायब हो गए। ❖

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

HTC TRADING PVT. LTD.

16, Bonfields Lane, KOLKATA 700001

Phones : 242-6141/9857/9426/9923

Fax : 91-33-2422004

e-mail : sirohia@mail.com

Wholesale Distributors & Dealers in

All Types of Tea Garden Stores, Spares, Agrochemicals, Growth Promoters, Jute-Zipper Bags, Coates-Rhino Stencil Ink Cutter Chaser, Nettlon Mesh, G-I Goat Proof Fencing, HM-HDPE Sleeves, Iron Materials, Neemcake, Cement, Coal.

1. Pesticides, Insecticides, Weedicides, Fungicides.
2. Micro Nutrients, Growth Promoters, Bio-Nutrients, Fertilizers.
3. Jute Canvas Bags, Zipper Bags, Poly Pouches.
4. H.M. Liners, Polythene Sleeves, Nursery Shades.
5. Welded Mesh, Wire Mesh, Nettlon, Structural Materials.
6. Ball & Roller Bearings, CTC Segments, CTC Cutters & Chasers, V-Belts, Weighing Scale.
7. Power Operated Bolo & Hand Operated Backpack Napsack Sprayers & Spares Parts.
8. Nylon Leaf Carrying Bags, Coir Leaf Bags & Plastic Basket.

For Your Requirements of Spare Parts for

1. Dryer, Heaters, Sorting Machines, Rolling Table, CTC Machines, Rotorvane, Miracle Grinder, Fluid Bed Dryers, ECP, Super ECP, Quality, Empire, Paragon Venetion.
2. C.I. Stove Tubes (Tested) Economiser Tube & Fire Bar.

Authorised Distributors & Dealers in Pesticides & Fertilizers of :

- ANKAR
- AVENTIS
- BASF
- BAYER
- CHEMINOVA
- DE-NOCIL
- EXCEL
- FCI
- GODREJ AGROVET
- HFC
- INDOFIL
- INDIAN POTASH
- NORTHERN
- RALLIS
- SPIC
- SHAW WALLACE
- SUVOCHEM
- SYNGENTA
- T STANES
- UPL
- WOCKHARDT

प्रेषण दिनांक 1 दिसंबर, 06 • Licensed to Post without Pre-Payment Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004-06
जैन भारती, दिसंबर, 2006 भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/06-08

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779
नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।